समकालीन विश्व राजनीति

कक्षा 12 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक

© NCERT not to be republished

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
मार्च 2007 चैत्र 1929
पुनर्मुद्रण
नवंबर 2007 कार्तिक 1929
मार्च 2008 फाल्गुन 1929
जनवरी 2009 पौष 1930
जनवरी 2010 पौष 1931
जनवरी 2011 पौष 1932
जनवरी 2012 माघ 1933
मार्च 2013 फाल्गुन 1934
जनवरी 2014 माघ 1935
मार्च 2015 फाल्गुन 1936

PD 30T RPS

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2007

₹ 100.00

आवरण पर डाक टिकटों के चित्र यूनाइटेड नेशन्स पोस्टल एडमिनिस्ट्रेशन (न्यूयार्क) द्वारा बनाए गए हैं। ये विश्व के विभिन्न समकालीन मुद्दों को दर्शाते हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा शगुन ऑफ़सेट प्रा. लि., बी-3, सेक्टर-65, नोएडा 201 301 (उ. प्र.) द्वारा मुद्रित।

ISBN 81-7450-710-8

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन सी ई आर टी के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बेंगलुर 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग	:	*एन. के. गुप्ता*
मुख्य व्यापार प्रबंधक	:	*गौतम गांगुली*
मुख्य संपादक	:	*श्वेता उप्पल*
मुख्य उत्पादन अधिकारी (प्रभारी)	:	*अरूण चितकारा*
उत्पादन सहायक	:	*राजेश पिप्पल*

आवरण एवं सज्जा
श्वेता राव

चित्र
इरफ़ान

© NCERT not to be republished

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास है। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और अपने अनुभव पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों व स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें। ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितना वार्षिक कैलेण्डर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक स्कूल में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक विकास समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान सलाहकार समूह के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और राजनीति विज्ञान पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार प्रोफ़ेसर सुहास पळशीकर, प्रोफ़ेसर योगेंद्र यादव तथा सलाहकार कांति बाजपेई के विशेष आभारी हैं। इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में कई शिक्षकों ने योगदान दिया; इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा

© NCERT not to be republished

प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी. टिप्पणियों व सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
20 नवंबर 2006

© NCERT
not to be republished

दो बातें...

एन.सी.ई.आर.टी. की कोशिश है कि विद्यार्थियों को राजनीति की समझ बनाने में मदद मिले। समकालीन विश्व राजनीति एन.सी.ई.आर.टी. के इसी प्रयास का हिस्सा है। 11वीं और 12वीं के राजनीति विज्ञान की दूसरी किताबों में राजनीति के विभिन्न पहलुओं, मसलन – भारतीय संविधान, भारत में राजनीति तथा राजनीतिक-सिद्धांत की चर्चा की गई है। समकालीन विश्व राजनीति में राजनीति के दायरे को बढ़ाकर उसमें विश्व भर की बातों को समेटा गया है।

राजनीति विज्ञान के नए पाठ्यक्रम में अंतत: विश्व राजनीति को जगह मिली है। यह अपने आप में महत्त्वपूर्ण बदलाव है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत का स्थान ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हुआ है और देश से बाहर की घटनाएँ हमारे जीवन और पसंद-नापसंद पर असर डाल रही हैं। ऐसे में हमें बाहर की दुनिया के बारे में और ज़्यादा जानने की ज़रूरत है। भारत में अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर पूरे जोशो-खरोश से चर्चा होती है लेकिन यह चर्चा हमेशा समझदारी भरी होती हो – ऐसी बात नहीं। दुनिया के राह-रवैये की जानकारी के लिए हम दैनिक अखबार, टेलीविज़न और वक्त-बेवक्त की बातचीत का सहारा लेते हैं। हमें उम्मीद है कि इस किताब से विद्यार्थियों को देश के बाहर हो रही घटनाओं और इनके साथ भारत के रिश्तों को जानने में मदद मिलेगी।

'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' या 'अंतर्राष्ट्रीय संबंध' जैसे टकसाली नाम छोड़कर इस किताब का नाम 'विश्व राजनीति' रखा गया है। चर्चा को आगे चलाने से पहले यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि ऐसा क्यों किया गया। इस विश्व में विभिन्न देशों की सरकारों के बीच के संबंध जिन्हें हम 'अंतर्राष्ट्रीय संबंध' कहते हैं - निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हैं। बहरहाल, इसके साथ-साथ सरकारों, गैर-सरकारी संस्थाओं और आम जनता के बीच भी ज़रूरी संबंध होते हैं। इन रिश्तों को अमूमन अधिराष्ट्रीय संबंध कहा जाता है। दुनिया को समझने के लिए महज विभिन्न सरकारों के बीच के संबंधों को समझना ही अब काफ़ी न रहा। सीमापार क्या-क्या घटनाएँ घट रहीं हैं – इसे समझना भी ज़रूरी है और अपने देश की सीमा के बाहर जो कुछ घट रहा है उसमें सिर्फ सरकारों की भूमिका भर नहीं है।

विश्व राजनीति में दूसरे देशों की अंदरूनी राजनीति को भी शामिल किया जाता है और उसे तुलनात्मक नज़रिये से समझा जाता है। मिसाल के लिए, अध्याय एक 'दूसरी दुनिया' के साम्यवादी देशों में शीत-युद्ध के बाद हुई घटनाओं पर है। इस अध्याय में इन देशों में हुए अंदरूनी बदलावों की चर्चा की गई है। दक्षिण एशिया के बारे में लिखे गए अध्याय में भारत के पड़ोसी देशों में मौजूद लोकतंत्र की हालत का जिक्र किया गया है। यह तुलनात्मक राजनीति का दायरा है।

विश्व में राजनीति आज जिस सूरत में है, कमोबेश, इस किताब का सरोकार उसी से है। किताब में 19वीं और 20वीं सदी की विश्व राजनीति की चर्चा नहीं की गई है। इन वक्तों की राजनीति का जिक्र इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में किया गया है। हमने 20वीं सदी की बातों की चर्चा उसी हद तक की है जिस हद तक मौजूदा घटनाओं और प्रवृत्तियों को बताने में वह बतौर पृष्ठभूमि काम आ सकती हैं। उदाहरण के लिए, हम शीत युद्ध से शुरू करते हैं क्योंकि इस प्रक्रिया और उसके अंत को समझे बिना हम यह अंदाज नहीं लगा पाएँगे कि आज हम कहाँ हैं।

आप इस किताब का प्रयोग कैसे करेंगे? हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक विश्व राजनीति से परिचित कराएगी। हमें विश्वास है कि समकालीन विश्व राजनीति की जानकारी प्राप्त करने के लिए अध्यापक और विद्यार्थी इस पुस्तक को आधार बनाएँगे। प्रत्येक अध्याय में आपको निश्चित सीमा में सूचनाएँ मिलेंगी। इसके साथ-साथ हर अध्याय में विश्व राजनीति को समझने में उपयोगी अवधारणाओं से आपकी भेंट होगी जैसे– शीतयुद्ध; वर्चस्व की धारणा; अंतर्राष्ट्रीय संगठन; राष्ट्रीय सुरक्षा और मानवीय सुरक्षा; पर्यावरणीय सुरक्षा; वैश्वीकरण आदि।

हर अध्याय की शुरुआत में 'परिचय' दिया गया है। इससे सरसरी तौर पर आपको अंदाजा लग जाएगा कि अध्याय में किन बातों की चर्चा की गयी है। हर अध्याय में मानचित्र, सारणी, आरेख, बॉक्स, कार्टून तथा अन्य रूप-रचनाओं (प्रदर्शों) का भी इस्तेमाल किया है ताकि आपको पढ़ने में मज़ा आये; आप उकसावे में आकर, चुनौती मानकर अथवा मन ही मन मुस्कुराते हुए विश्व राजनीति पर सोचने लगें! उन्नी-मुन्नी के किरदारों से आपकी भेंट पहले की किताबों में हुई थी। ये किरदार आपको अबकी बार भी मिलेंगे। वे अपने मासूम, बहुधा शरारती मगर लगातार खोद-खोद कर जानने की जुगत में लगे सवाल पूछेंगे। अध्यायों में 'आओ! मिलकर करें' के अंतर्गत मिल-बाँटकर करने वाले अभ्यासों के बारे

© NCERT not to be republished

में सुझाव दिए गए हैं। इसमें सामग्रियों को साथ मिलकर जुटाने, अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने और आप सब से इस तरह बातचीत करने को कहा गया है मानों आप राजनयिक हों। इसके अलावे कुछ 'प्लस बॉक्स' हैं। इसमें किसी जाँच-परख अथवा परीक्षा के लिहाज से नहीं बल्कि आपकी जानकारी को बढ़ाने के लिए सूचनाएँ दी गई हैं। इन 'बॉक्स' में ऐसी सूचनाओं का सार-संक्षेप दिया गया है जिन्हें अलग से नहीं लिखा जाता तो अध्याय बोझिल होता। एक मंशा यह भी है कि आप किसी विषय पर और आगे सोचें। हर अध्याय के अंत में एक प्रश्नावली है। इससे आपको अध्याय में पढ़ी गई बातों की अपनी समझ को परखने में मदद मिलेगी। 'प्रश्नावली' आपको अध्याय में बतायी गई बातों से और आगे भी ले जाएगी।

आप देखेंगे कि इस किताब में मानचित्रों की भरमार है। कौन-सी जगह कहाँ है; कौन किसके पड़ोस में रहता है तथा एक-दूसरे की मौजूदगी के मायनों में देशों की सीमा-रेखा, नदी तथा अन्य राजनीतिक और भौगोलिक विशेषताएँ कहाँ और कैसे हैं– इन बातों के बोध के बिना विश्व-राजनीति को समझना असंभव नहीं तो मुश्किल ज़रूर है। इसी कारण हमने बड़ी दरियादिली से मानचित्रों का इस्तेमाल किया है। जिन राजनीतिक और भौगोलिक क्षेत्रों के बारे में आप पढ़ रहे हैं उसकी तस्वीर आपके मन में बन सके– इसी बात में मदद के लिए ये मानचित्र दिए गए हैं। हमारी कत्तई यह मंशा नहीं कि आपको भी मानचित्र बनाने होंगे अथवा जाँच-परीक्षा के लिए इनका रट्टा लगाना होगा।

एक ज़रूरी बात इस किताब के इस्तेमाल के बारे में! हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि आप पर नाम, तारीख और घटनाओं से जुड़ी सूचनाओं का बोझ न पड़े। हमने इन्हें यथासंभव कम रखने की कोशिश की है। हमारी मंशा आपको आनन-फानन में विश्व-राजनीति का विशेषज्ञ बनाने की नहीं। हमारी कोशिश है कि आप इस नए विश्व की जटिलताओं और तेजतर बदलावों को समझना शुरू कर दें। साथ ही, अगर आप विश्व-राजनीति के बारे में और ज़्यादा जानना चाहते हैं तो 'पढ़ने-लिखने के लिए कुछ और सामग्री'... शीर्षक के अंतर्गत दिए गए स्रोतों का सहारा ले सकते हैं।

यदि यह किताब आपको उकसाए; हमने जो सवाल आपके आगे रखे उससे कहीं ज़्यादा सवाल अगर आप खुद पूछने लगे और आपने यहाँ जो कुछ पढ़ा उससे आप अधीर हो उठें तो हम समझेंगे कि हमारा प्रयास सफल हुआ! हम अपने दिल से उम्मीद करते हैं कि आपको यह किताब पसंद आएगी और आप इसे रुचिकर तथा उपयोगी पाएंगे।

एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक प्रो. कृष्ण कुमार ने इस किताब की तैयारी में जो सहायता और मार्गदर्शन दिए उसके लिए हम उनके आभारी हैं। उन्होंने इस किताब को जहाँ तक बन पड़े विद्यार्थियों के मनमाफिक बनाने के लिए हमें बढ़ावा दिया। उन्होंने इस किताब के अंतिम प्रारूप का भी बड़े धीरज से इंतज़ार किया।

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के सदस्यों की अकादमिक विशेषज्ञता और अमूल्य समय के बग़ैर 'समकालीन विश्व राजनीति' का लिखा जाना असंभव था। समिति के हर सदस्य ने अपना अमूल्य समय दिया और अलग-अलग मौकों पर अपनी अन्य व्यस्तताओं को टालकर इस काम में हाथ बँटाया। मानचित्रों के चयन और पाठ-शुद्धि के लिए प्रो. संजय चतुर्वेदी और डा. सिद्धार्थ मल्लवारपु के हम विशेष रूप से आभारी हैं। इस पाठ्यपुस्तक के लिए एन.सी.ई.आर.टी. की तरफ से डॉ. एम.वी.एस.वी. प्रसाद समायोजन कर रहे थे। हम उनकी लगन और ईमानदारी के आभारी हैं। हम श्री एलेक्स एम. जार्ज और श्री पंकज पुष्कर की लगन और ईमानदारी के भी आभारी हैं। इन्होंने पाठ की गुणवत्ता, विषय-सामग्री की प्रामाणिकता और पठनीयता को सुनिश्चित करने के लिए दिन-रात एक कर दिया। सुश्री पद्मावती ने सभी प्रश्नावलियों को तैयार किया। इस पुस्तक को हिंदी में लाते समय हमारा आग्रह था कि पुस्तक अनुदित नहीं मूल लगे। इस चुनौती को सामने रखकर पुस्तक को हिंदी में अनूदित करने का श्रमसाध्य कार्य चंदन श्रीवास्तव ने किया और इस संस्करण की तैयारी के कई चरणों में उन्होंने सहयोग किया। इस पुस्तक की डिज़ाइनर श्वेता राव ने इसे आकर्षक साज-सज्जा से सँवारा और किताब को एक अँदाज बख्शा। इनकी भरपूर और रचनात्मक मदद के बग़ैर हम इस किताब को मौजूदा रूप-रंग में नहीं निकाल पाते।

कांति बाजपेई
सलाहकार

योगेन्द्र यादव
सुहास पळशीकर
मुख्य सलाहकार

© NCERT not to be republished

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार

सुहास पळशीकर, *प्रोफ़ेसर*, राजनीति एवं लोक प्रशासन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

योगेंद्र यादव, *सीनियर फेलो,* विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली

सलाहकार

कांति बाजपेई, *हेडमास्टर,* द दून स्कूल, देहरादून

सदस्य

एलेक्स एम. जॉर्ज, *स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता,* इरुवट्टी, जिला कन्नूर, केरल

अनुराधा एम. चिनॉय, *प्रोफ़ेसर,* रूसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र, अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन पीठ, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

मधु भल्ला, *प्रोफ़ेसर,* पूर्व एशियाई अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नवनीता चड्ढा बेहरा, *रीडर,* राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पद्मावती बी.एस., इंटरनेशनल एकेडमी फॉर क्रिएटिव टीचिंग, बंगलोर

सव्यसाची बसु रायचौधरी, *रीडर,* राजनीति विज्ञान विभाग, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता

समीर दास, *रीडर,* राजनीति विज्ञान विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

संजय चतुर्वेदी, *रीडर,* सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ जियोपॉलिटिक्स, राजनीति विज्ञान विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

संजय दुबे, *रीडर,* सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

शिवाशीष चटर्जी, *लेक्चरर,* अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन विभाग, जादवपुर विश्वविद्यालय, कोलकाता

सिद्धार्थ मल्लावरपु, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर,* अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, संगठन एवं निशस्त्रीकरण अध्ययन केंद्र, अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन पीठ, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

वरुण साहनी, *प्रोफ़ेसर,* अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, संगठन एवं निशस्त्रीकरण अध्ययन केंद्र, अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन पीठ, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

हिंदी अनुवाद

अरविंद मोहन, *वरिष्ठ पत्रकार,* दिलशाद गार्डन, दिल्ली
चंदन कुमार श्रीवास्तव, *स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता,* नयी दिल्ली
पंकज पुष्कर, लोकनीति, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली
मेधा, *स्वतंत्र पत्रकार एवं अनुसंधानकर्ता,* नयी दिल्ली

सदस्य-समन्वयक

मल्ला वी.एस.वी. प्रसाद, *लेक्चरर,* सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

© NCERT not to be republished

आभार

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् उन सभी लोगों का आभार प्रकट करती है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस पुस्तक के निर्माण में योगदान दिया।

हम सा.वि.मा.शि.वि. की अध्यक्षा प्रोफ़ेसर सविता सिन्हा का और विभाग के सभी प्रशासनिक सहकर्मियों का उनके सहयोग के लिए धन्यवाद व्यक्त करते हैं।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 के अंतर्गत लिखी गई राजनीति विज्ञान की अन्य पुस्तकों की भांति यह पुस्तक भी विकासशील समाज अध्ययन पीठ के संस्थागत सहयोग के बिना संभव नहीं हो सकती थी। अध्ययन पीठ के कार्यक्रम 'लोकनीति' ने अपने सभी प्रकार के संसाधन पुस्तक निर्माण के इस नवाचार में लगा दिए। इसके लिए विकासशील समाज अध्ययन पीठ और साथ ही इसके एक कार्यक्रम 'लोकनीति' के निदेशक प्रोफ़ेसर पीटर डीसूज़ा विशेष तौर से धन्यवाद के पात्र हैं।

राष्ट्रीय परिषद् पुस्तक निर्माण की प्रक्रिया में योगदान देने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थानों का हार्दिक आभार व्यक्त करती है। यूनाइटेड नेशन्स पोस्टल एडमिनिस्ट्रेशन (न्यूयार्क) के प्रमुख राबर्ट ग्रे का संयुक्त राष्ट्रसंघ के डाक टिकटों को प्रयोग करने की अनुमति देने के लिए; प्रोफ़ेसर के.सी. सूरी का बहुमूल्य सुझावों के लिए; केगल कार्टून्स का एंडी सिंगर, एंजेल बोलीगन, एरेस, केम कॉर्डोव, क्रिस्टो कोमारनित्स्की, देंग काय माइल, हेरी हरीसन, माइक लेन, माइल्ट प्राइगे, पेट बेगले, पीटर पिस्मेस्त्रोविच और टेब के कार्टून उपलब्ध कराने के लिए; कुट्टी (लाफिंग विद कुट्टी), 'द हिंदू' और 'पाकिस्तान ट्रिब्यून' का अपने कार्टून प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। इरफ़ान खान ने पुस्तक के लिए अपने रेखाचित्र और कार्टोग्राफिक डिजाइन्स ने भारत और उसके पड़ोसी देश एवं विश्व के मानचित्र उपलब्ध कराएँ, इनका भी धन्यवाद। संसदीय पुस्तकालय और संयुक्त राष्ट्र सूचना केंद्र, नयी दिल्ली ने पुस्तक के लिए सामग्री जुटाने में महत्त्वपूर्ण मदद की। 'डाउन टु अर्थ' और इसके परिशिष्ठ 'गोबर टाइम्स' का विशेष उल्लेख आवश्यक है।

पुस्तक के लिए संदर्भ सामग्री, चित्र और आँकड़े जुटाने में विकीपीडिया से सहायता ली गई है। फ्लिकर के 'क्रिएटिव कामन्स' के अन्तर्गत उपलब्ध चित्रों का भी पुस्तक में अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। हम इन चित्रों के फोटोग्राफरों और फ्लिकर के आभारी हैं कि उन्होंने अपने कला-कर्म को कॉपीराइट की सीमा से मुक्त कर प्रकाशित करने की अनुमति दी।

इस पुस्तक के भाषायी संपादन के लिए संपन्न एक कार्यशाला में वरिष्ठ पत्रकार अरविंद मोहन, मेधा, आलोक कुमार, सैयद अज़फ़र अहसन और संजय कौशिक ने अपने बहुमूल्य सुझाव दिए। *डी.टी.पी. ऑपरेटर* विक्रम सिंह ने लगन के साथ पुस्तक को शुरुआती रूप दिया। पुस्तक को अंतिम रूप देने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. के दक्ष *डी.टी.पी. ऑपरेटर* उत्तम कुमार व अरविंद शर्मा और *कॉपी एडीटर* यतेन्द्र यादव का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

© NCERT not to be republished

विषय सूची

आमुख *iii*

दो बातें *v*

अध्याय 1
शीतयुद्ध का दौर 1

अध्याय 2
दो ध्रुवीयता का अंत 17

अध्याय 3
समकालीन विश्व में अमरीकी वर्चस्व 31

अध्याय 4
सत्ता के वैकल्पिक केंद्र 51

अध्याय 5
समकालीन दक्षिण एशिया 65

अध्याय 6
अंतर्राष्ट्रीय संगठन 81

अध्याय 7
समकालीन विश्व में सुरक्षा 99

अध्याय 8
पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधन 117

अध्याय 9
वैश्वीकरण 135

© NCERT not to be republished

पढ़ने-समझने के लिए कुछ और सामग्री...

समकालीन विश्व राजनीति के बारे में अगर ज़्यादा जानना चाहें तो इसके लिए आप क्या करेंगे? इस विषय के बारे जानकारी के स्रोतों की भरमार हैं। यहाँ हम इसके बारे में आपको कुछ सुझाव दे रहे हैं। हम यहाँ अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध पाठ्यसामग्रियों की चर्चा करेंगे। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं कि जानकारी के लिए इसी भाषा में अच्छी पाठ्यसामग्री उपलब्ध है। हाँ, भारतीय छात्रों के लिए अंग्रेजी में उपलब्ध पाठ्यसामग्रियों को हासिल करना आसान है।

इस किताब में जो विषय उठाए गए हैं अथवा जिन देशों, व्यक्तियों और घटनाओं का हवाला दिया गया है उसके बारे में बहुत-सी जानकारी आप इंटरनेट पर उपलब्ध विकीपीडिया से हासिल कर सकते हैं। आप कुछेक विश्वकोश जैसे एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का भी उपयोग कर सकते हैं। विश्व राजनीति की शुरुआती जानकारी देने वाली कई पुस्तकें हैं जो आपको किसी अच्छे और बड़े पुस्तकालय में मिल जाएंगी।

शोधार्थी, मूल प्रश्न और समयान्तर जैसी कुछ पत्रिकाएँ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर पठनीय सामग्री उपलब्ध कराती हैं। आप 'फ्रंटलाइन', 'इंडिया टुडे', 'आउटलुक' और 'वीक' जैसी पत्रिकाओं का भी इस्तेमाल कर सकते हैं। इनमें से अधिकांश के हिंदी संस्करण भी प्रकाशित होते हैं। आप चाहें तो 'इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली', 'वर्ल्ड फोकस' तथा 'सेमिनार' जैसे कुछ अकादमिक जर्नल्स को भी देख सकते हैं। बहरहाल, दैनिक अखबारों को पढ़ने की आदत डालना इस सिलसिले में बहुत कारगर होगा। भारत सरकार का प्रकाशन विभाग और कुछ समाचार पत्र-समूह वार्षिकी या ईयर-बुक का प्रकाशन करते हैं। ये भी समसामयिक घटनाक्रम को जानने के माध्यम हो सकते हैं। इनसे विश्व के समसामयिक घटनाचक्र से आप लगातार अवगत होते रहेंगे। टेलीविज़न के चैनल भी विश्व की घटनाओं की नियमित रिपोर्टिंग करते हैं। इन्हें भी देखें।

अपनी राय ज़रूर दें

आपको यह किताब कैसी लगी? इसे पढ़ने या इसका प्रयोग करने का आपका अनुभव कैसा रहा? आपको इसमें क्या-क्या परेशानियाँ हुईं? पुस्तक के अगले संस्करण में आप इसमें क्या-क्या बदलाव चाहेंगे? इन सबके बारे में या किसी भी नए सुझाव के संबंध में हमें अवश्य लिखें। आप अध्यापक हों, अभिभावक हों, छात्र हों या सामान्य पाठक, हर कोई सलाह दे सकता है। किताबों में बदलाव की प्रक्रिया में आपके सुझाव अमूल्य हैं। हम हर सुझाव का सम्मान करते हैं।

कृपया हमें इस पते पर लिखें

समन्वयक (राजनीति विज्ञान)
DESSH, NCERT
श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली-110 016
आप हमें इस पते पर ई-मेल भी कर सकते हैं – politics.ncert@gmail.com

© NCERT not to be republished

अध्याय 1

शीतयुद्ध का दौर

परिचय

यह अध्याय पूरी पुस्तक के लिए एक पूर्वपीठिका प्रस्तुत करता है। शीतयुद्ध की समाप्ति को समकालीन विश्व राजनीति की शुरुआत की तरह देखा जाता है। यही समकालीन विश्व राजनीति इस पुस्तक की विषय-वस्तु है इसलिए यह उचित ही है कि हम कहानी की शुरुआत शीतयुद्ध की चर्चा से करें। इस अध्याय से यह साफ होगा कि किस तरह दो महाशक्तियों संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ का वर्चस्व शीतयुद्ध के केंद्र में था। यह अध्याय हमें विश्व के विभिन्न हिस्सों में शीतयुद्ध की समरस्थलियों तक भी ले जाएगा। इस अध्याय में गुटनिरपेक्ष आंदोलन पर इस दृष्टि से विचार किया गया है कि किस तरह इसने दोनों राष्ट्रों के दबदबे को चुनौती दी। गुटनिरपेक्ष देशों द्वारा 'नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' स्थापित करने के प्रयास की चर्चा इस अध्याय में यह बताते हुए की गई है कि किस तरह इन देशों ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को अपने आर्थिक विकास और राजनीतिक स्वतंत्रता का साधन बनाया। अध्याय के अंत में गुटनिरपेक्ष आंदोलन में भारत की भूमिका का मूल्यांकन किया गया है और यह प्रश्न पूछा गया है कि भारत के हितों की रक्षा में गुटनिरपेक्षता की नीति किस सीमा तक सफल रही।

दूसरे विश्वयुद्ध के अंत के परिणामस्वरूप दो महाशक्तियों का उदय हुआ। ऊपर के दो चित्र दूसरे विश्वयुद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका और समाजवादी सोवियत गणराज्य की विजय को इंगित करते हैं।

1. *अमरीकी सैनिक 23 फरवरी, 1945 को आइवो जीमा, जापान की लड़ाई में अपना झंडा फहराते हुए।*
2. *समाजवादी सोवियत गणराज्य के सैनिक मई, 1945 में राइस्टैग बिल्डिंग (बर्लिन, जर्मनी) पर अपना झंडा फहराते हुए।*

चित्र 1 जो रोसेन्थाल (द एसोसिएट प्रैस) से और चित्र 2 येवगेनी खल्देई (ताश) से साभार

हम दुनिया की सैर कर रहे हैं। ऐसी जगहों पर जाना जहाँ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुईं हैं सचमुच बहुत मज़ेदार है।

यह नक्शा क्यूबा में तैनात की जा रही परमाणु मिसाइल की पहुँच का दायरा दिखाता है। नक्शे के नीचे ध्यान से देखिए। यह नक्शा संयुक्त राष्ट्र अमरीका की खुफिया एजेंसी सी.आई.ए. द्वारा क्यूबा मिसाइल संकट पर हुई गोपनीय बैठक में प्रयोग किया गया था।

स्रोतः *जॉन एफ. केनेडी प्रेसिडेंसिएल लाइब्रेरी एंड म्यूज़ियम*

क्यूबा का मिसाइल संकट

1961 की अप्रैल में सोवियत संघ के नेताओं को यह चिंता सता रही थी कि अमरीका साम्यवादियों द्वारा शासित क्यूबा पर आक्रमण कर देगा और इस देश के राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो का तख़्तापलट हो जाएगा। क्यूबा अमरीका के तट से लगा हुआ एक छोटा-सा द्वीपीय देश है। क्यूबा का जुड़ाव सोवियत संघ से था और सोवियत संघ उसे कूटनयिक तथा वित्तीय सहायता देता था। सोवियत संघ के नेता नीकिता ख्रुश्चेव ने क्यूबा को रूस के 'सैनिक अड्डे' के रूप में बदलने का फैसला किया। 1962 में ख्रुश्चेव ने क्यूबा में परमाणु मिसाइलें तैनात कर दीं। इन हथियारों की तैनाती से पहली बार अमरीका नजदीकी निशाने की सीमा में आ गया। हथियारों की इस तैनाती के बाद सोवियत संघ पहले की तुलना में अब अमरीका के मुख्य भू-भाग के लगभग दोगुने ठिकानों या शहरों पर हमला बोल सकता था।

क्यूबा में सोवियत संघ द्वारा परमाणु हथियार तैनात करने की भनक अमरीकियों को तीन हफ्ते बाद लगी। अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ कैनेडी और उनके सलाहकार ऐसा कुछ भी करने से हिचकिचा रहे थे जिससे दोनों देशों के बीच परमाणु युद्ध शुरू हो जाए। लेकिन वे इस बात को लेकर दृढ़ थे कि ख्रुश्चेव क्यूबा से मिसाइलों और परमाणु हथियारों को हटा लें। कैनेडी ने आदेश दिया कि अमरीकी जंगी बेड़ों को आगे करके क्यूबा की तरफ जाने वाले सोवियत ज़हाजों को रोका जाए। इस तरह अमरीका सोवियत संघ को मामले के प्रति अपनी गंभीरता की चेतावनी देना चाहता था। ऐसी स्थिति में यह लगा कि युद्ध होकर रहेगा। इसी को 'क्यूबा मिसाइल संकट' के रूप में जाना गया। इस संघर्ष की आशंका ने पूरी दुनिया को बेचैन कर दिया। यह टकराव

कोई आम युद्ध नहीं होता। अंततः दोनों पक्षों ने युद्ध टालने का फैसला किया और दुनिया ने चैन की साँस ली। सोवियत संघ के ज़हाजों ने या तो अपनी गति धीमी कर ली या वापसी का रुख कर लिया।

'क्यूबा मिसाइल संकट' शीतयुद्ध का चरम बिंदु था। शीतयुद्ध सोवियत संघ और अमरीका तथा इनके साथी देशों के बीच प्रतिद्वंद्विता, तनाव और संघर्ष की एक शृंखला के रूप में जारी रहा। सौभाग्य से इन तनावों और संघर्षों ने युद्ध का रूप नहीं लिया यानी इन दो देशों के बीच कोई पूर्णव्यापी रक्तरंजित युद्ध नहीं छिड़ा। विभिन्न इलाकों में युद्ध हुए; दोनों महाशक्तियाँ और उनके साथी देश इन युद्धों में संलग्न रहे; वे क्षेत्र-विशेष के अपने साथी देश के मददगार बने लेकिन दुनिया तीसरे विश्वयुद्ध से बच गई।

शीतयुद्ध सिर्फ जोर-आजमाइश, सैनिक गठबंधन अथवा शक्ति-संतुलन का मामला भर नहीं था बल्कि इसके साथ-साथ विचारधारा के स्तर पर भी एक वास्तविक संघर्ष जारी था। विचारधारा की लड़ाई इस बात को लेकर थी कि पूरे विश्व में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन को सूत्रबद्ध करने का सबसे बेहतर सिद्धांत कौन-सा है। पश्चिमी गठबंधन का अगुआ अमरीका था और यह गुट उदारवादी लोकतंत्र तथा पूँजीवाद का हामी था। पूर्वी गठबंधन का अगुवा सोवियत संघ था और इस गुट की प्रतिबद्धता समाजवाद तथा साम्यवाद के लिए थी। आप इन विचारधाराओं के बारे में कक्षा ग्यारह में पढ़ चुके हैं।

शीतयुद्ध क्या है?

दूसरे विश्वयुद्ध का अंत समकालीन विश्व-राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। सन् 1945 में मित्र-राष्ट्रों और धुरी-राष्ट्रों के बीच दूसरे विश्व युद्ध (1939-1945) की समाप्ति हो गई। मित्र-राष्ट्रों की अगुआई अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस कर रहे थे। धुरी-राष्ट्रों की अगुआई जर्मनी, इटली और जापान के हाथ में थी। इस युद्ध में विश्व के लगभग सभी ताकतवर देश शामिल थे। यह युद्ध यूरोप से बाहर के इलाके में भी फैला और इसका विस्तार दक्षिण-पूर्व एशिया, चीन, बर्मा (अब म्यांमार) तथा भारत के पूर्वोत्तर के कुछ हिस्सों तक था। इस युद्ध में बड़े पैमाने पर जनहानि और धनहानि हुई। 1914 से 1918 के बीच हुए पहले विश्वयुद्ध ने विश्व को दहला दिया था, लेकिन दूसरा विश्वयुद्ध इससे भी ज्यादा भारी पड़ा।

दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति से ही शीतयुद्ध की शुरुआत हुई। अगस्त 1945 में अमरीका ने जापान के दो शहर हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराये और जापान को घुटने टेकने पड़े। इसके बाद दूसरे विश्वयुद्ध का अंत हुआ। परमाणु बम गिराने के अमरीकी फैसले के आलोचकों का तर्क है कि अमरीका इस बात को जानता था कि जापान आत्मसमर्पण करने वाला है। ऐसे में बम गिराना गैर-ज़रूरी था। इन आलोचकों का मानना है कि अमरीका की इस कार्रवाई का लक्ष्य सोवियत संघ को एशिया तथा अन्य जगहों पर सैन्य और राजनीतिक लाभ उठाने से रोकना था। वह सोवियत संघ के सामने यह भी जाहिर करना चाहता था कि अमरीका ही सबसे बड़ी ताकत है। अमरीका के समर्थकों का तर्क था कि युद्ध को जल्दी से जल्दी समाप्त करने तथा अमरीका और साथी राष्ट्रों की आगे की जनहानि को रोकने के लिए परमाणु बम गिराना ज़रूरी था। विश्वयुद्ध की समाप्ति के कारण कुछ भी हों, लेकिन इसका परिणाम

बहुत पास फिर भी बहुत दूर। मैंने नक्शे में देखा और मुझे यकीन नहीं हुआ कि महाशक्ति के इतने पास होने के बाद भी क्यूबा में सालों-साल से अमरीका विरोधी सरकार कायम है।

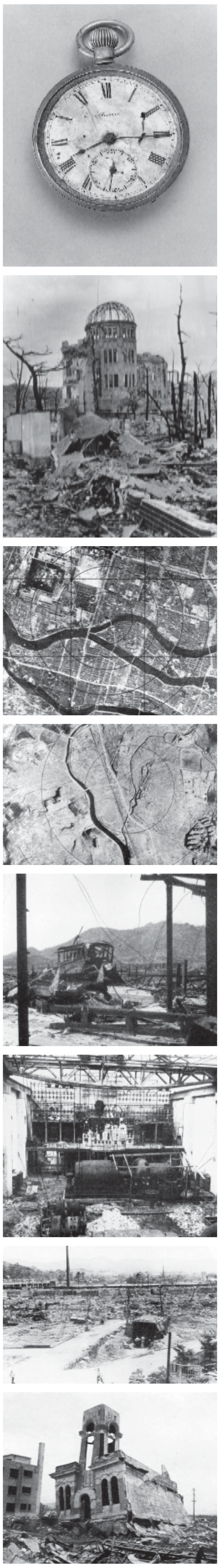

ये तस्वीरें उस विध्वंस को दिखाती हैं जो अमरीका द्वारा हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गये परमाणु बमों के कारण हुआ। इन बमों को 'लिटिल ब्वॉय' और 'फैटमैन' के गुप्तनाम दिए गए। महाशक्तियों के पास आज परमाणु हथियारों का जो ज़खीरा है उसकी तुलना में ये बम बहुत छोटे थे। ये बम क्रमशः 15 और 21 किलोटन क्षमता के थे। इतनी कम क्षमता के परमाणु बमों ने भी अकल्पनीय विध्वंस किया। 1950 के दशक की शुरुआत में ही संयुक्त राष्ट्र अमरीका और सोवियत संघ ऐसे परमाणु-बमों का परीक्षण कर रहे थे जिनकी क्षमता 10 से 15 हजार किलोटन थी। दूसरे शब्दों में ये बम हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गये परमाणु बमों की तुलना में हजारों गुना ज्यादा विध्वंसक थे। शीतयुद्ध के दौरान दोनों ही महाशक्तियों के पास इस तरह के हज़ारों हथियार थे। जरा कल्पना कीजिए कि ये हथियार दुनिया भर में क्या तबाही मचा सकते थे।

यही हुआ कि वैश्विक राजनीति के मंच पर दो महाशक्तियों का उदय हो गया। जर्मनी और जापान हार चुके थे और यूरोप तथा शेष विश्व विध्वंस की मार झेल रहे थे। अब अमरीका और सोवियत संघ विश्व की सबसे बड़ी शक्ति थे। इनके पास इतनी क्षमता थी कि विश्व की किसी भी घटना को प्रभावित कर सकें। अमरीका और सोवियत संघ का महाशक्ति बनने की होड़ में एक-दूसरे के मुकाबले खड़ा होना शीतयुद्ध का कारण बना। शीतयुद्ध शुरू होने के पीछे यह समझ भी काम कर रही थी कि परमाणु बम से होने वाले विध्वंस की मार झेलना किसी भी राष्ट्र के बूते की बात नहीं। यह एक सीधा-सादा लेकिन असरदार तर्क था। जब दोनों महाशक्तियों के पास इतनी क्षमता के परमाणु हथियार हों कि वे एक-दूसरे को असहनीय क्षति पहुँचा सकें तो ऐसे में दोनों के बीच रक्तरंजित युद्ध होने की संभावना कम रह जाती है। उकसावे के बावजूद कोई भी पक्ष युद्ध का जोखिम मोल लेना नहीं चाहेगा क्योंकि युद्ध से राजनीतिक फायदा चाहे किसी को भी हो, लेकिन इससे होने वाले विध्वंस को औचित्यपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता।

परमाणु युद्ध की सूरत में दोनों पक्षों को इतना नुकसान उठाना पड़ेगा कि उनमें से विजेता कौन है – यह तय करना भी असंभव होगा। अगर कोई अपने शत्रु पर आक्रमण करके उसके परमाणु हथियारों को नाकाम करने की कोशिश करता है तब भी दूसरे के पास उसे बर्बाद करने लायक हथियार बच जाएंगे। इसे 'अपरोध' (रोक और संतुलन) का तर्क कहा गया। दोनों ही पक्षों के पास एक-दूसरे के मुकाबले और परस्पर नुकसान पहुँचाने की इतनी क्षमता होती है कि कोई भी पक्ष युद्ध का खतरा नहीं उठाना चाहता। इस तरह, महाशक्तियों के बीच गहन प्रतिद्वन्द्विता होने के बावजूद शीतयुद्ध रक्तरंजित युद्ध का रूप नहीं ले सका। इसकी तासीर ठंडी रही। पारस्परिक 'अपरोध' की स्थिति ने युद्ध तो नहीं होने दिया, लेकिन यह स्थिति पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को न रोक सकी।

शीतयुद्ध की प्रमुख सैन्य विशेषताओं पर ध्यान दें। इसमें दो महाशक्तियाँ और उनके अपने-अपने गुट थे। इन परस्पर प्रतिद्वंद्वी गुटों में शामिल देशों से अपेक्षा थी कि वे तर्कसंगत और जिम्मेदारी भरा व्यवहार करेंगे। इन देशों को एक विशेष अर्थ में तर्कसंगत और जिम्मेदारी भरा बरताव करना था। परस्पर विरोधी गुटों में शामिल देशों को समझना था कि आपसी युद्ध में जोखिम है क्योंकि संभव है कि इसकी वजह से दो महाशक्तियों के बीच युद्ध ठन जाए। जब दो महाशक्तियों और उनकी अगुआई वाले गुटों के बीच 'पारस्परिक अपरोध' का संबंध हो तो युद्ध लड़ना दोनों के लिए विध्वंसक साबित होगा। इस संदर्भ में जिम्मेदारी

का मतलब था संयम से काम लेना और तीसरे विश्वयुद्ध के जोखिम से बचना। शीतयुद्ध ने समूची मनुष्य जाति पर मंडराते खतरे को जैसे-तैसे संभाल लिया।

दो-ध्रुवीय विश्व का आरंभ

दोनों महाशक्तियाँ विश्व के विभिन्न हिस्सों पर अपने प्रभाव का दायरा बढ़ाने के लिए तुली हुई थीं। दुनिया दो गुटों के बीच बहुत स्पष्ट रूप से बँट गई थी। ऐसे में किसी मुल्क के लिए एक रास्ता यह था कि वह अपनी सुरक्षा के लिए किसी एक महाशक्ति के साथ जुड़ा रहे और दूसरी महाशक्ति तथा उसके गुट के देशों के प्रभाव से बच सके।

परस्पर विरोधी गुटों के अपेक्षाकृत छोटे देशों ने महाशक्तियों के साथ अपने-अपने जुड़ाव का इस्तेमाल निजी हित में किया। इन देशों को स्थानीय प्रतिद्वंद्वी देश के खिलाफ सुरक्षा का वायदा मिला, हथियार और आर्थिक मदद मिली। इन देशों की अपने पड़ोसी देशों से होड़ थी। महाशक्तियों के नेतृत्व में गठबंधन की व्यवस्था से पूरी दुनिया के दो खेमों में बंट जाने का खतरा पैदा हो गया। यह विभाजन सबसे पहले यूरोप में हुआ। पश्चिमी यूरोप के अधिकतर देशों ने अमरीका का पक्ष लिया जबकि पूर्वी यूरोप सोवियत खेमे में शामिल हो गया इसीलिए ये खेमे पश्चिमी और पूर्वी गठबंधन भी कहलाते हैं।

पश्चिमी गठबंधन ने स्वयं को एक संगठन का रूप दिया। अप्रैल 1949 में उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) की स्थापना हुई जिसमें 12 देश शामिल थे। इस संगठन ने घोषणा की

1. प्रत्येक प्रतिस्पर्धी गुट से कम से कम तीन देशों की पहचान करें।
2. अध्याय चार में दिए गए यूरोपीय संघ के मानचित्र को देखें और उन चार देशों को पहचाने जो पहले 'वारसा संधि' के सदस्य थे और अब यूरोपीय संघ के सदस्य हैं।
3. इस मानचित्र की तुलना यूरोपीय संघ के मानचित्र अथवा विश्व के मानचित्र से करें। इस तुलना के बाद क्या आप तीन ऐसे नये देशों की पहचान कर सकते हैं जो शीतयुद्ध के बाद अस्तित्व में आए?

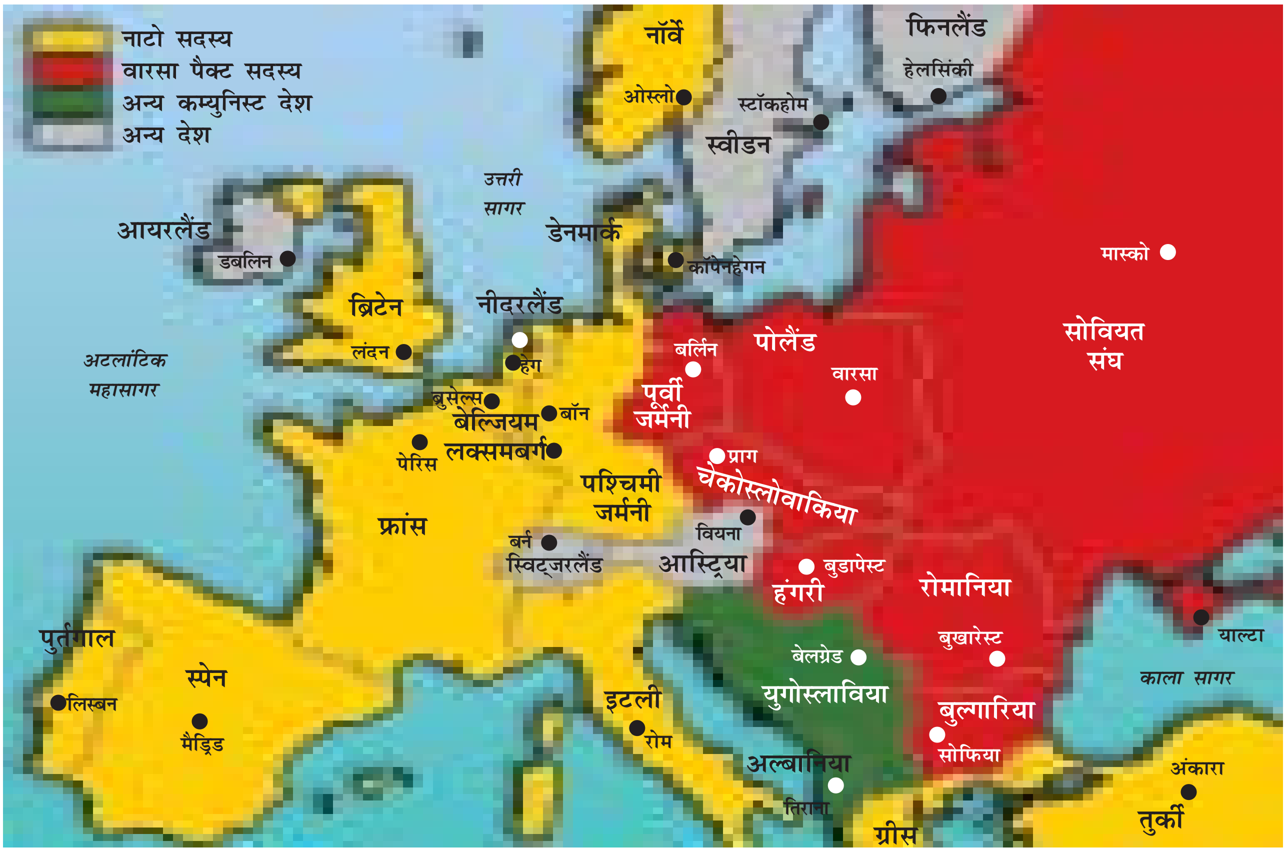

शीतयुद्ध के दौरान यूरोप दो प्रतिद्वंद्वी गठबंधनों में बँट गया था। मानचित्र में इस तथ्य को दिखाया गया है।

निम्नलिखित तालिका में तीन-तीन देशों के नाम उनके गुटों को ध्यान में रखकर लिखें –

पूंजीवादी गुट

____

____

____

साम्यवादी गुट

____

____

____

गुटनिरपेक्ष आंदोलन

____

____

____

कि उत्तरी अमरीका अथवा यूरोप के इन देशों में से किसी एक पर भी हमला होता है तो उसे 'संगठन' में शामिल सभी देश अपने ऊपर हमला मानेंगे। 'नाटो' में शामिल हर देश एक-दूसरे की मदद करेगा। इसी प्रकार के पूर्वी गठबंधन को 'वारसा संधि' के नाम से जाना जाता है। इसकी अगुआई सोवियत संघ ने की। इसकी स्थापना सन् 1955 में हुई थी और इसका मुख्य काम था 'नाटो' में शामिल देशों का यूरोप में मुकाबला करना।

शीतयुद्ध के दौरान अंतर्राष्ट्रीय गठबंधनों का निर्धारण महाशक्तियों की ज़रूरतों और छोटे देशों के लाभ-हानि के गणित से होता था। जैसाकि ऊपर बताया गया है, महाशक्तियों के बीच तनातनी का मुख्य अखाड़ा यूरोप बना। कुछेक मामलों में यह भी हुआ कि महाशक्तियों ने अपने-अपने गुट में शामिल करने के लिए कुछ देशों पर अपनी ताकत का इस्तेमाल किया। पूर्वी यूरोप में सोवियत संघ की दखलंदाजी इसका उदाहरण है। सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप में अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया। इस क्षेत्र के देशों में सोवियत संघ की सेना की व्यापक उपस्थिति ने यह सुनिश्चित करने के लिए अपना प्रभाव जमाया कि यूरोप का पूरा पूर्वी हिस्सा सोवियत संघ के दबदबे में रहे। पूर्वी और दक्षिण-पूर्व एशिया तथा पश्चिम एशिया में अमरीका ने गठबंधन का तरीका अपनाया। इन गठबंधनों को दक्षिण-पूर्व एशियाई संधि संगठन (SEATO) और केंद्रीय संधि संगठन (CENTO) कहा जाता है। इसके ज़वाब में सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन ने इस क्षेत्र के देशों मसलन उत्तरी वियतनाम, उत्तरी कोरिया और इराक के साथ अपने सम्बन्ध मजबूत किए।

शीतयुद्ध के कारण विश्व के सामने दो गुटों के बीच बँट जाने का खतरा पैदा हो गया था। ऐसी स्थिति में औपनिवेशिक शासन, मसलन ब्रिटेन और फ्रांस के चंगुल से मुक्त हुए नव स्वतंत्र देशों को चिंता हुई कि कहीं वे अपनी इस आज़ादी को पाने के साथ खो न बैठें। गठबंधन में भेद पैदा हुए और बड़ी जल्दी उनमें दरार पड़ी। साम्यवादी चीन की

1950 के दशक के उत्तरार्द्ध में सोवियत संघ से अनबन हो गई। सन् 1969 में इन दोनों के बीच एक भू-भाग पर आधिपत्य को लेकर छोटा-सा युद्ध भी हुआ। इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना 'गुटनिरपेक्ष आंदोलन' का विकास है। इस आंदोलन ने नव-स्वतंत्र राष्ट्रों को दो-ध्रुवीय विश्व की गुटबाजी से अलग रहने का मौका दिया।

आप यह सवाल पूछ सकते हैं कि आख़िर महाशक्तियों को अपना गुट बनाने की ज़रूरत क्यों पड़ी। आख़िर अपने परमाणु हथियारों और अपनी स्थायी सेना के बूते महाशक्तियाँ इतनी ताकतवर थीं कि एशिया तथा अफ्रीका और यहाँ तक कि यूरोप के अधिकांश छोटे देशों की साझी शक्ति का भी उनसे कोई मुकाबला नहीं था। लेकिन, हमें यह समझने की ज़रूरत है कि छोटे देश निम्न कारणों से महाशक्तियों के बड़े काम के थे –

(क) महत्त्वपूर्ण संसाधनों (जैसे तेल और खनिज),

(ख) भू-क्षेत्र (ताकि यहाँ से महाशक्तियाँ अपने हथियारों और सेना का संचालन कर सकें),

(ग) सैनिक ठिकाने (जहाँ से महाशक्तियाँ एक-दूसरे की जासूसी कर सकें) और

(घ) आर्थिक मदद (जिसमें गठबंधन में शामिल बहुत से छोटे-छोटे देश सैन्य-खर्च वहन करने में मददगार हो सकते थे)।

ये ऐसे कारण थे जो छोटे देशों को महाशक्तियों के लिए ज़रूरी बना देते थे। विचारधारा के कारण भी ये देश महत्त्वपूर्ण थे। गुटों में शामिल देशों की निष्ठा से यह संकेत मिलता था कि महाशक्तियाँ विचारों का पारस्परिक युद्ध भी जीत रही हैं। गुट में शामिल हो रहे देशों के आधार पर वे सोच सकती थीं कि उदारवादी लोकतंत्र और पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद से कहीं बेहतर है अथवा समाजवाद और साम्यवाद, उदारवादी लोकतंत्र और पूंजीवाद की अपेक्षा बेहतर है।

शीतयुद्ध के दायरे

शीतयुद्ध के दौरान अनेक संकट सामने आये। क्यूबा के जिस मिसाइल संकट से हमने इस अध्याय की शुरुआत की, वह इनमें से एक था। शीतयुद्ध के दौरान खूनी लड़ाइयाँ भी हुई, लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि इन संकटों और लड़ाइयों की परिणति तीसरे विश्वयुद्ध के रूप में नहीं हुई। दोनों महाशक्तियाँ कोरिया (1950–1953), बर्लिन (1958-1962), कांगो (1960 के दशक की शुरुआत) और कई अन्य जगहों पर सीधे-सीधे मुठभेड़ की स्थिति में आ चुकी थीं। संकट गहराता गया क्योंकि दोनों में से कोई भी पक्ष पीछे हटने के लिए तैयार नहीं था। जब हम शीतयुद्ध के दायरों की बात करते हैं तो हमारा आशय ऐसे क्षेत्रों से होता है जहाँ विरोधी खेमों में बँटे देशों के बीच संकट के अवसर आये, युद्ध हुए या इनके होने की संभावना बनी, लेकिन बातें एक हद से ज्यादा नहीं बढ़ीं। कोरिया, वियतनाम और अफ़गानिस्तान जैसे कुछ क्षेत्रों में व्यापक जनहानि हुई, लेकिन विश्व परमाणु युद्ध से बचा रहा और वैमनस्य विश्वव्यापी नहीं हो पाया। कई बार ऐसे अवसर आए जब दोनों महाशक्तियों के बीच राजनयिक संवाद जारी नहीं रह पाया और इससे दोनों के बीच ग़लतफहमियाँ बढ़ीं।

ऐसे कई मौके आए जब शीतयुद्ध के संघर्षों और कुछ गहन संकटों को टालने में दोनों गुटों से बाहर के देशों ने कारगर भूमिका निभायी। इस संदर्भ में गुटनिरपेक्ष देशों की भूमिका को नहीं भुलाया जा सकता। गुटनिरपेक्ष

उत्तरी और दक्षिणी कोरिया अभी तक क्यों विभाजित हैं जबकि शीतयुद्ध के दौर के बाकी विभाजन मिट गए हैं? क्या कोरिया के लोग चाहते हैं कि विभाजन बना रहे?

खुद करें, खुद सीखें

विश्व के मानचित्र पर शीतयुद्ध के प्रमुख घटनास्थलों को चिह्नित करें।

शीतयुद्ध का घटनाक्रम

1947	:	साम्यवाद को रोकने के बारे में अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन का सिद्धांत।
1947-52	:	मार्शल प्लान – पश्चिमी यूरोप के पुनर्निर्माण में अमरीका की सहायता।
1948-49	:	सोवियत संघ द्वारा बर्लिन की घेराबंदी। अमरीका और उसके साथी देशों ने पश्चिमी बर्लिन के नागरिकों को जो आपूर्ति भेजी थी उसे सोवियत संघ ने अपने विमानों से उठा लिया।
1950-53	:	कोरियाई युद्ध – 38वीं समानांतर रेखा के द्वारा कोरिया का विभाजन।
1954	:	वियतनामियों के हाथों दायन बीयन फू में फ्रांस की हार; जेनेवा समझौते पर हस्ताक्षर; 17वीं समानांतर रेखा द्वारा वियतनाम का विभाजन; सिएटो (SEATO) का गठन।
1954-75	:	वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप।
1955	:	बगदाद समझौते पर हस्ताक्षर; बाद में इसे सेन्टो (CENTO) के नाम से जाना गया।
1956	:	हंगरी में सोवियत संघ का हस्तक्षेप।
1961	:	क्यूबा में अमरीका द्वारा प्रायोजित 'बे ऑफ पिग्स' आक्रमण
1961	:	बर्लिन-दीवार खड़ी की गई।
1962	:	क्यूबा का मिसाइल संकट।
1965	:	डोमिनिकन रिपब्लिक में अमरीकी हस्तक्षेप।
1968	:	चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप।
1972	:	अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन का चीन दौरा।
1978-89	:	कंबोडिया में वियतनाम का हस्तक्षेप।
1979-89	:	अफ़गानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप
1985	:	गोर्बाचेव सोवियत संघ के राष्ट्रपति बने; सुधार की प्रक्रिया आरंभ की।
1989	:	बर्लिन-दीवार गिरी; पूर्वी यूरोप की सरकारों के विरुद्ध लोगों का प्रदर्शन।
1990	:	जर्मनी का एकीकरण।
1991	:	सोवियत संघ का विघटन; शीतयुद्ध की समाप्ति।

आंदोलन के प्रमुख नेताओं में एक जवाहरलाल नेहरू थे। नेहरू ने उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के बीच मध्यस्थता में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कांगो संकट में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ने प्रमुख मध्यस्थ की भूमिका निभाई। अंततः यह बात उभरकर सामने आती है कि महाशक्तियों ने समझ लिया था कि युद्ध को हर हालत में टालना ज़रूरी है। इसी समझ के कारण दोनों महाशक्तियों ने संयम बरता और अंतर्राष्ट्रीय मामलों में जिम्मेवारी भरा बरताव किया। शीतयुद्ध एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की तरफ सरकता गया और इसमें संयम का तर्क ही काम कर रहा था।

हालाँकि शीतयुद्ध के दौरान दोनों ही गठबंधनों के बीच प्रतिद्वंदिता समाप्त नहीं हुई थी। इसी कारण एक-दूसरे के प्रति शंका की हालत में दोनों गुटों ने भरपूर हथियार जमा किए और लगातार युद्ध के लिए तैयारी करते रहे। हथियारों के बड़े ज़खीरे को युद्ध से बचे रहने के लिए ज़रूरी माना गया।

दोनों देश लगातार इस बात को समझ रहे थे कि संयम के बावजूद युद्ध हो सकता है। दोनों पक्षों में से कोई भी दूसरे के हथियारों की संख्या को लेकर ग़लत अनुमान लगा सकता था। दोनों गुट एक-दूसरे की मंशा को समझने में भूल कर सकते थे। इसके अतिरिक्त सवाल यह भी था कि कोई परमाणु दुर्घटना हो गई तो क्या होगा? अगर ग़लती से कोई परमाणु हथियार चल जाए या कोई सैनिक शरारतन युद्ध शुरू करने के इरादे से कोई हथियार चला दे तो क्या होगा? अगर परमाणु हथियार के कारण कोई दुर्घटना हो जाए तो क्या होगा? ऐसी दुर्घटना का शिकार हुए देश के नेताओं को कैसे पता चलेगा कि यह शत्रु का षड्यंत्र नहीं अथवा दूसरी तरफ से कोई मिसाइल नहीं दागी गई है, बल्कि यह महज एक दुर्घटना है?

ये दोनों कार्टून मशहूर भारतीय कार्टूनिस्ट कुट्टी ने बनाए हैं। इनमें शीतयुद्ध को लेकर भारत के नज़रिए को चित्रित किया गया है। पहला कार्टून उस समय का है जब समाजवादी सोवियत गणराज्य को अंधेरे में रखकर अमरीका ने चीन के साथ गुपचुप दोस्ती गांठी। इस कार्टून में दिखाए गए किरदारों के बारे में और जानकारी जुटाइए। दूसरे कार्टून में वियतनाम में अमरीकी दुस्साहस को चित्रित किया गया है। वियतनाम-युद्ध के बारे में और जानकारी जुटाएँ।

राजनीतिक बसंत – चीन के हाथों में अमरीका का हाथ

कुट्टी, लॉफिंग विद कुट्टी

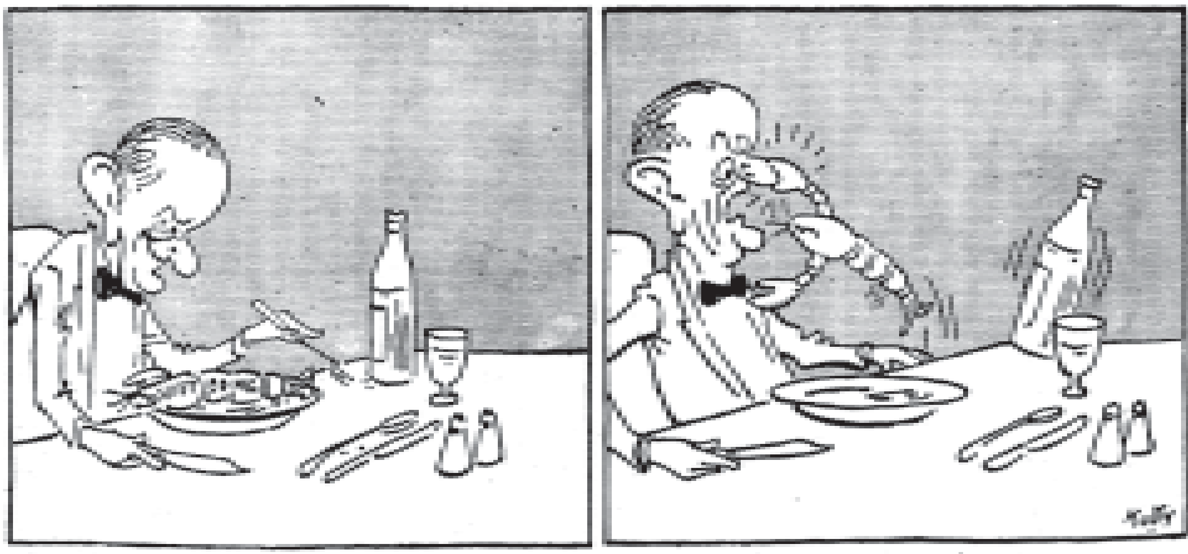

एक नज़र इधर भी – अमरीकी राष्ट्रपति जॉनसन वियतनाम के मसले पर बड़े कष्ट में जान पड़ते हैं।

कुट्टी, लॉफिंग विद कुट्टी

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक

जोसेफ ब्रॉज़ टीटो
(1892-1980)
युगोस्लाविया के शासक (1940-80); दूसरे विश्व युद्ध में जर्मनी के खिलाफ लड़े; साम्यवादी; सोवियत संघ से दूरी बनाए रखी। युगोस्लाविया में एकता कायम की।

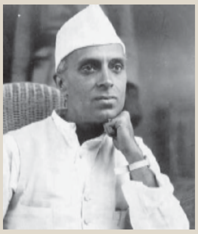

जवाहरलाल नेहरू
(1889-1964)
भारत के पहले प्रधानमंत्री (1947-64); एशियाई एकता, अनौपनिवेशीकरण और निरस्त्रीकरण के प्रयास किए और विश्व-शांति के लिए शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की वकालत की।

इस कारण, समय रहते अमरीका और सोवियत संघ ने कुछेक परमाण्विक और अन्य हथियारों को सीमित या समाप्त करने के लिए आपस में सहयोग करने का फैसला किया। दोनों महाशक्तियों ने फैसला किया कि 'अस्त्र-नियंत्रण' द्वारा हथियारों की होड़ पर लगाम कसी जा सकती है और उसमें स्थायी संतुलन लाया जा सकता है। ऐसे प्रयास की शुरुआत सन् 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में हुई और एक दशक के भीतर दोनों पक्षों ने तीन अहम समझौतों पर दस्तख़त किए। ये संधियाँ थीं परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि, परमाणु अप्रसार संधि और परमाणु प्रक्षेपास्त्र परिसीमन संधि (एंटी बैलेस्टिक मिसाइल ट्रीटी)। इसके बाद महाशक्तियों ने 'अस्त्र-परिसीमन' के लिए वार्ताओं के कई दौर किए और हथियारों पर अंकुश रखने के लिए अनेक संधियाँ कीं।

दो-ध्रुवीयता को चुनौती – गुटनिरपेक्षता

हम देख चुके हैं कि किस तरह शीतयुद्ध की वज़ह से विश्व दो प्रतिद्वंद्वी गुटों में बँट रहा था। इसी संदर्भ में गुटनिरपेक्षता ने एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमरीका के नव-स्वतंत्र देशों को एक तीसरा विकल्प दिया। यह विकल्प था दोनों महाशक्तियों के गुटों से अलग रहने का।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की जड़ में युगोस्लाविया के जोसेफ ब्रॉज़ टीटो, भारत के जवाहरलाल नेहरू और मिस्र के गमाल अब्दुल नासिर की दोस्ती थी। इन तीनों ने सन् 1956 में एक सफल बैठक की। इंडोनेशिया के सुकर्णो और घाना के वामे एनक्रूमा ने इनका जोरदार समर्थन किया। ये पाँच नेता गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक कहलाए। पहला गुटनिरपेक्ष सम्मेलन सन् 1961 में बेलग्रेड में हुआ। यह सम्मेलन कम से कम तीन बातों की परिणति था –

(क) इन पाँच देशों के बीच सहयोग,

(ख) शीतयुद्ध का प्रसार और इसके बढ़ते हुए दायरे, और

(ग) अंतर्राष्ट्रीय फलक पर बहुत से नव-स्वतंत्र अफ्रीकी देशों का नाटकीय उदय। 1960 तक संयुक्त राष्ट्रसंघ में 16 नये अफ्रीकी देश बतौर सदस्य शामिल हो चुके थे।

पहले गुटननिरपेक्ष-सम्मेलन में 25 सदस्य-देश शामिल हुए। समय गुजरने के साथ गुटनिरपेक्ष आंदोलन की सदस्य संख्या बढ़ती गई। 2006 में हवाना (क्यूबा) में हुए 14वें सम्मेलन में 116 सदस्य-देश और 15 पर्यवेक्षक देश शामिल हुए।

जैसे-जैसे गुटनिरपेक्ष आंदोलन एक लोकप्रिय अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में बढ़ता गया वैसे-वैसे इसमें विभिन्न राजनीतिक प्रणाली और अलग-अलग हितों के देश शामिल होते गए। इससे गुटनिरपेक्ष आंदोलन के मूल स्वरूप में बदलाव आया। इसी कारण गुटनिरपेक्ष आंदोलन की सटीक परिभाषा कर पाना कुछ मुश्किल है। वास्तव में यह आंदोलन है क्या? दरअसल यह आंदोलन क्या नहीं है- यह बताकर इसकी परिभाषा करना ज्यादा सरल है। यह महाशक्तियों के गुटों में शामिल न होने का आंदोलन है।

महाशक्तियों के गुटों से अलग रहने की इस नीति का मतलब यह नहीं है कि इस आंदोलन से जुड़े देश अपने को अंतर्राष्ट्रीय मामलों से अलग-थलग रखते हैं या तटस्थता का पालन करते हैं। गुटनिरपेक्षता का मतलब

पृथकतावाद नहीं। पृथकतावाद का अर्थ होता है अपने को अंतर्राष्ट्रीय मामलों से काटकर रखना। 1787 में अमरीका में स्वतंत्रता की लड़ाई हुई थी। इसके बाद से पहले विश्वयुद्ध की शुरुआत तक अमरीका ने अपने को अंतर्राष्ट्रीय मामलों से अलग रखा। उसने पृथकतावाद की विदेश-नीति अपनाई थी। इसके विपरीत गुटनिरपेक्ष देशों ने, जिसमें भारत भी शामिल है, शांति और स्थिरता बनाए रखने के लिए प्रतिद्वंद्वी गुटों के बीच मध्यस्थता में सक्रिय भूमिका निभाई। गुटनिरपेक्ष देशों की ताकत की जड़ उनकी आपसी एकता और महाशक्तियों द्वारा अपने-अपने खेमे में शामिल करने की पुरजोर कोशिशों के बावजूद ऐसे किसी खेमे में शामिल न होने के उनके संकल्प में है।

गुटनिरपेक्षता का अर्थ तटस्थता का धर्म निभाना भी नहीं है। तटस्थता का अर्थ होता है मुख्यतः युद्ध में शामिल न होने की नीति का पालन करना। तटस्थता की नीति का पालन करने वाले देश के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह युद्ध को समाप्त करने में मदद करे। ऐसे देश युद्ध में संलग्न नहीं होते और न ही युद्ध के सही-ग़लत होने के बारे में उनका कोई पक्ष होता है। दरअसल कई कारणों से गुटनिरपेक्ष देश, जिसमें भारत भी शामिल है, युद्ध में शामिल हुए हैं। इन देशों ने दूसरे देशों के बीच युद्ध को होने से टालने के लिए काम किया है और हो रहे युद्ध के अंत के लिए प्रयास किए हैं।

नव अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था

गुटनिरपेक्ष देश शीतयुद्ध के दौरान महज मध्यस्थता करने वाले देश भर नहीं थे। गुटनिरपेक्ष आंदोलन में शामिल अधिकांश देशों को 'अल्प विकसित देश' का दर्जा मिला था। इन देशों के सामने मुख्य चुनौती आर्थिक रूप से और ज्यादा विकास करने तथा अपनी जनता को ग़रीबी से उबारने की थी। नव-स्वतंत्र देशों की आज़ादी के लिहाज़ से भी आर्थिक विकास महत्त्वपूर्ण था। बग़ैर टिकाऊ विकास के कोई देश सही मायनों में आज़ाद नहीं रह सकता। उसे धनी देशों पर निर्भर रहना पड़ता। इसमें वह उपनिवेशक देश भी हो सकता था जिससे राजनीतिक आज़ादी हासिल की गई।

इसी समझ से नव अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की धारणा का जन्म हुआ। 1972 में संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार और विकास से संबंधित सम्मेलन (यूनाइटेड नेशंस कॉनफ्रेंस ऑन ट्रेड एंड डेवलपमेंट- अंकटाड) में 'टुवार्ड्स अ न्यू ट्रेड पॉलिसी फॉर डेवलपमेंट' शीर्षक से एक रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। इस रिपोर्ट में वैश्विक व्यापार-प्रणाली में सुधार का प्रस्ताव किया गया था। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि सुधारों से –

(क) अल्प विकसित देशों को अपने उन प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण प्राप्त होगा जिनका दोहन पश्चिम के विकसित देश करते हैं;

(ख) अल्प विकसित देशों की पहुँच पश्चिमी देशों के बाज़ार तक होगी; वे अपना सामान बेच सकेंगे और इस तरह ग़रीब देशों के लिए यह व्यापार फायदेमंद होगा;

(ग) पश्चिमी देशों से मंगायी जा रही प्रौद्योगिकी की लागत कम होगी और

(घ) अल्प विकसित देशों की अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थानों में भूमिका बढ़ेगी।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक

गमाल अब्दुल नासिर
(1918-70)
सन् 1970 तक मिस्र के शासक। अरब राष्ट्रवाद, समाजवाद और साम्राज्यवाद-विरोध के लिए प्रतिबद्ध। स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण किया। इसकी वजह से सन् 1956 में अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष हुआ।

सुकर्णो
(1901-1970)
इंडोनेशिया के पहले राष्ट्रपति (1945-65); स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व; समाजवाद और साम्राज्यवाद-विरोध के लिए प्रतिबद्ध; बांडुंग - सम्मेलन के आयोजक। सैनिक विद्रोह में तख़्तापलट हुआ।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक

वामे एनक्रूमा
(1909-1972)
घाना के पहले प्रधानमंत्री (1952-66); आजादी की लड़ाई के अगुआ; अफ्रीकी एकता और समाजवाद के पक्षधर। नव-उपनिवेशवाद का विरोध किया। सैनिक षड्यंत्र में इनका तख़्तापलट हुआ।

तो इसका मतलब यह कि नव अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था बस विचार ही रहा- कभी साकार नहीं हुआ!

करें, खुद सीखें

पाँच ऐसे देशों के नाम बताएँ जो दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त हुए।

गुटनिरपेक्षता की प्रकृति धीरे-धीरे बदली और इसमें आर्थिक मुद्दों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। बेलग्रेड में हुए पहले सम्मेलन (1961) में आर्थिक मुद्दे ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं थे। सन् 1970 के दशक के मध्य तक आर्थिक मुद्दे प्रमुख हो उठे। इसके परिणामस्वरूप गुटनिरपेक्ष आंदोलन आर्थिक दबाव-समूह बन गया। सन् 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध तक नव अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को बनाये-चलाये रखने के प्रयास मंद पड़ गए। इसका मुख्य कारण था विकसित देशों द्वारा किया जा रहा तेज विरोध। विकसित देश एक सुर में विरोध कर रहे थे जबकि गुटनिरपेक्ष देशों को इस विरोध के बीच अपनी एकता बनाए रखने के लिए जी-तोड़ मेहनत करनी पड़ रही थी।

भारत और शीतयुद्ध

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के नेता के रूप में शीतयुद्ध के दौर में भारत ने दो स्तरों पर अपनी भूमिका निभाई। एक स्तर पर भारत ने सजग और सचेत रूप से अपने को दोनों महाशक्तियों की खेमेबंदी से अलग रखा। दूसरे, भारत ने उपनिवेशों के चुंगल से मुक्त हुए नव-स्वतंत्र देशों के महाशक्तियों के खेमे में जाने का पुरजोर विरोध किया।

भारत की नीति न तो नकारात्मक थी और न ही निष्क्रियता की। नेहरू ने विश्व को याद दिलाया कि गुटनिरपेक्षता कोई 'पलायन' की नीति नहीं है। इसके विपरीत, भारत शीतयुद्धकालीन प्रतिद्वंदिता की जकड़ ढीली करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने के पक्ष में था। भारत ने दोनों गुटों के बीच मौजूद मतभेदों को कम करने की कोशिश की और इस तरह उसने इन मतभेदों को पूर्णव्यापी युद्ध का रूप लेने से रोका। भारत के राजनयिकों और नेताओं का उपयोग अक्सर शीतयुद्ध के दौर के प्रतिद्वंद्वियों के बीच संवाद कायम करने तथा मध्यस्थता करने के लिए हुआ; मिसाल के तौर पर 1950 के दशक के शुरुआती सालों में कोरियाई युद्ध के दौरान।

यहाँ यह याद रखना भी ज़रूरी है कि भारत ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन में शामिल अन्य सदस्यों को भी ऐसे कामों में संलग्न रखा। शीतयुद्ध के दौरान भारत ने लगातार उन क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को सक्रिय बनाये रखने की कोशिश की जो अमरीका अथवा सोवियत संघ के खेमे से नहीं जुड़े थे। नेहरू ने 'स्वतंत्र और परस्पर सहयोगी राष्ट्रों के एक सच्चे राष्ट्रकुल' के ऊपर गहरा विश्वास जताया जो शीतयुद्ध को खत्म करने में न सही, पर उसकी जकड़ ढीली करने में ही सकारात्मक भूमिका निभाये।

कुछ लोगों ने माना कि गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीयता का एक उदार आदर्श है लेकिन यह आदर्श भारत के वास्तविक हितों से मेल नहीं खाता। यह बात ठीक नहीं है। गुटनिरपेक्षता की नीति ने कम से कम दो तरह से भारत का प्रत्यक्ष रूप से हितसाधन किया –

- पहली बात तो यह कि गुटनिरपेक्षता के कारण भारत ऐसे अंतर्राष्ट्रीय फ़ैसले और पक्ष ले सका जिससे उसका हित सधता होता हो न कि महाशक्तियों और उनके खेमे के देशों का।
- दूसरे, भारत हमेशा इस स्थिति में रहा कि एक महाशक्ति उसके खिलाफ जाए तो वह दूसरी महाशक्ति के करीब आने की कोशिश करे। अगर भारत को महसूस हो कि महाशक्तियों में से कोई उसकी अनदेखी कर रहा है या अनुचित दबाव डाल रहा है तो वह दूसरी महाशक्ति की तरफ

अपना रुख कर सकता था। दोनों गुटों में से कोई भी भारत को लेकर न तो बेफ़िक्र हो सकता था और न ही धौंस जमा सकता था।

भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति की कई कारणों से आलोचना की गई। हम यहाँ ऐसी दो आलोचनाओं की चर्चा करेंगे –

- आलोचकों का एक तर्क यह है कि भारत की गुटनिरपेक्षता 'सिद्धांतविहीन' है। कहा जाता है कि भारत अपने राष्ट्रीय हितों को साधने के नाम पर अक्सर महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर कोई सुनिश्चित पक्ष लेने से बचता रहा।
- आलोचकों का दूसरा तर्क है कि भारत के व्यवहार में स्थिरता नहीं रही और कई बार भारत की स्थिति विरोधाभासी रही। महाशक्तियों के खेमों में शामिल होने पर दूसरे देशों की आलोचना करने वाले भारत ने स्वयं सन् 1971 के अगस्त में सोवियत संघ के साथ आपसी मित्रता की संधि पर हस्ताक्षर किए। विदेशी पर्यवेक्षकों ने इसे भारत का सोवियत खेमे में शामिल होना माना। भारत की सरकार का दृष्टिकोण यह था कि बांग्लादेश-संकट के समय उसे राजनयिक और सैनिक सहायता की ज़रूरत थी और यह संधि उसे संयुक्त राज्य अमरीका सहित अन्य देशों से अच्छे संबंध बनाने से नहीं रोकती।

गुटनिरपेक्षता की नीति शीतयुद्ध के संदर्भ में पनपी थी। दूसरे अध्याय में हम पढ़ेंगे कि सन् 1990 के दशक के शुरुआती वर्षों में शीतयुद्ध का अंत और सोवियत संघ का विघटन हुआ। इसके साथ ही एक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन और भारत की विदेश नीति की मूल भावना के रूप में गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता तथा प्रभावकारिता में थोड़ी कमी आयी। बहरहाल, गुटनिरपेक्षता में कुछ आधारभूत मूल्य और विचार शामिल हैं। गुटनिरपेक्षता इस बात की पहचान पर टिकी है कि उपनिवेश की स्थिति से आज़ाद हुए देशों के बीच ऐतिहासिक जुड़ाव हैं और यदि ये देश साथ आ जायें तो एक सशक्त

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- ▣ कक्षा को बराबर संख्या वाले तीन समूहों में बाँटें। प्रत्येक समूह दुनिया के इन तीन खेमों में से किसी एक की नुमाइंदगी करेगा- पूँजीवादी दुनिया, साम्यवादी दुनिया या तीसरी दुनिया।
- ▣ अध्यापक ऐसे दो संवेदनशील मुद्दों को चुनेंगे जो शीतयुद्ध के दौरान विश्व शांति और सुरक्षा को ख़तरा उत्पन्न कर चुके हों (कोरिया और वियतनाम संकट अच्छे उदाहरण हो सकते हैं)।
- ▣ प्रत्येक समूह को संबंधित मुद्दे पर 'घटना-चक्र' बनाने को कहें। उनको अपने समूह के दृष्टिकोण से एक प्रस्तुति करनी होगी। इस प्रस्तुति में घटना का कालक्रम, उसके कारण और समस्या के समाधान के लिए उनका कार्यक्रम शामिल होगा।
- ▣ प्रत्येक समूह को कक्षा के सामने 'घटना-चक्र' प्रस्तुत करने को कहें।

अध्यापकों के लिए

- ☐ छात्रों को ध्यान दिलाएँ कि किस प्रकार इन संकटों ने संबंधित देशों और शेष विश्व को प्रभावित किया। इन देशों की वर्तमान स्थिति से भी जोड़कर चर्चा करें।
- ☐ इन क्षेत्रों में शांति स्थापित करने में संयुक्त राष्ट्र और तीसरी दुनिया के नेताओं की भूमिका को रेखांकित करें (कोरिया और वियतनाम संकट में भारत की भूमिका को संदर्भ के लिए लिया जा सकता है)।
- ☐ 'शीतयुद्ध के बाद वाले दौर में हम इस प्रकार के संकटों को कैसे टाल सकते हैं' इस विषय पर वाद-विवाद शुरू करें।

सीमित परमाणु परीक्षण

सीमित परमाणु परीक्षण संधि (एलटीबीटी)

वायुमंडल, बाहरी अंतरिक्ष तथा पानी के अंदर परमाणु हथियारों के परीक्षण पर प्रतिबंध लगाने वाली इस संधि पर अमरीका, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ ने मास्को में 5 अगस्त 1963 को हस्ताक्षर किए। यह संधि 10 अक्तूबर 1963 से प्रभावी हो गई।

परमाणु अप्रसार संधि (एनपीटी)

यह संधि केवल परमाणु शक्ति-संपन्न देशों को एटमी हथियार रखने की अनुमति देती है और बाकी देशों को ऐसे हथियार हासिल करने से रोकती है। परमाणु अप्रसार संधि के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए उन देशों को परमाणु-शक्ति से संपन्न देश माना गया जिन्होंने 1 जनवरी 1967 से पहले किसी परमाणु हथियार अथवा अन्य विस्फोटक परमाणु सामग्रियों का निर्माण और विस्फोट किया हो। इस परिभाषा के अंतर्गत पाँच देशों – अमरीका, सोवियत संघ (बाद में रूस), ब्रिटेन, फ्रांस और चीन को परमाणु-शक्ति से संपन्न माना गया। इस संधि पर एक जुलाई 1968 को वॉशिंगटन, लंदन और मास्को में हस्ताक्षर हुए और यह संधि 5 मार्च 1970 से प्रभावी हुई। इस संधि को 1995 में अनियतकाल के लिए बढ़ा दिया गया।

सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता-I (स्ट्रेटजिक आर्म्स लिमिटेशन टॉक्स – साल्ट-I)

सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता का पहला चरण सन् 1969 के नवम्बर में आरंभ हुआ। सोवियत संघ के नेता लियोनेड ब्रेझनेव और अमरीका के राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने मास्को में 26 मई 1972 को निम्नलिखित समझौते पर दस्तख़त किए –

(क) परमाणु मिसाइल परिसीमन संधि (एबीएम ट्रीटी)।

(ख) सामरिक रूप से घातक हथियारों के परिसीमन के बारे में अंतरिम समझौता।

ये 3 अक्तूबर 1972 से प्रभावी हुए।

सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता-II (स्ट्रेटजिक आर्म्स लिमिटेशन टॉक्स-साल्ट-II)

वार्ता का दूसरा चरण सन् 1972 के नवम्बर महीने में शुरू हुआ। अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर और सोवियत संघ के नेता लियोनेड ब्रेझनेव ने वियना में 18 जून 1972 को सामरिक रूप से घातक हथियारों के परिसीमन से संबंधित संधि पर हस्ताक्षर किए।

सामरिक अस्त्र न्यूनीकरण संधि-I (स्ट्रेटजिक आर्म्स रिडक्शन संधि-स्टार्ट-I)

अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश (सीनियर) और सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाचेव ने 31 जुलाई 1991 को सामरिक रूप से घातक हथियारों के परिसीमन और उनकी संख्या में कमी लाने से संबंधित संधि पर हस्ताक्षर किए।

सामरिक अस्त्र न्यूनीकरण संधि-II (स्ट्रेटजिक आर्म्स रिडक्शन संधि-स्टार्ट-II)

सामरिक रूप से घातक हथियारों को सीमित करने और उनकी संख्या में कमी करने से संबंधित इस संधि पर रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन और अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश (सीनियर) ने मास्को में 3 जनवरी 1993 को हस्ताक्षर किए।

ताकत बन सकते हैं। गुटनिरपेक्षता का आशय है कि गरीब और विश्व के बहुत छोटे देशों को भी किसी महाशक्ति का पिछलग्गू बनने की ज़रूरत नहीं है। ये देश अपनी स्वतंत्र विदेश नीति अपना सकते हैं। यह आंदोलन मौजूदा असमानताओं से निपटने के लिए एक वैकल्पिक विश्व-व्यवस्था बनाने और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को लोकतंत्रधर्मी बनाने के संकल्प पर भी टिका है। अपने आप में ये विचार बुनियादी महत्त्व के हैं और शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद भी प्रासंगिक हैं।

प्रश्नावली

1. शीतयुद्ध के बारे में निम्नलिखित में से कौन-सा कथन ग़लत है?
   (क) यह संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ और उनके साथी देशों के बीच की एक प्रतिस्पर्धा थी?
   (ख) यह महाशक्तियों के बीच विचारधाराओं को लेकर एक युद्ध था।
   (ग) शीतयुद्ध ने हथियारों की होड़ शुरू की।
   (घ) अमरीका और सोवियत संघ सीधे युद्ध में शामिल थे।

2. निम्न में से कौन-सा कथन गुट-निरपेक्ष आंदोलन के उद्देश्यों पर प्रकाश नहीं डालता?
   (क) उपनिवेशवाद से मुक्त हुए देशों को स्वतंत्र नीति अपनाने में समर्थ बनाना।
   (ख) किसी भी सैन्य संगठन में शामिल होने से इंकार करना।
   (ग) वैश्विक मामलों में तटस्थता की नीति अपनाना।
   (घ) वैश्विक आर्थिक असमानता की समाप्ति पर ध्यान केंद्रित करना।

3. नीचे महाशक्तियों द्वारा बनाए सैन्य संगठनों की विशेषता बताने वाले कुछ कथन दिए गए हैं। प्रत्येक कथन के सामने सही या ग़लत का चिह्न लगाएँ।
   (क) गठबंधन के सदस्य देशों को अपने भू-क्षेत्र में महाशक्तियों के सैन्य अड्डे के लिए स्थान देना ज़रूरी था।
   (ख) सदस्य देशों को विचारधारा और रणनीति दोनो स्तरों पर महाशक्ति का समर्थन करना था।
   (ग) जब कोई राष्ट्र किसी एक सदस्य-देश पर आक्रमण करता था तो इसे सभी सदस्य देशों पर आक्रमण समझा जाता था।
   (घ) महाशक्तियाँ सभी सदस्य देशों को अपने परमाणु हथियार विकसित करने में मदद करती थीं।

4. नीचे कुछ देशों की एक सूची दी गई है। प्रत्येक के सामने लिखें कि वह शीतयुद्ध के दौरान किस गुट से जुड़ा था?
   (क) पोलैंड
   (ख) फ्रांस
   (ग) जापान
   (घ) नाइजीरिया
   (ङ) उत्तरी कोरिया
   (च) श्रीलंका

प्रश्नावली

5. शीतयुद्ध से हथियारों की होड़ और हथियारों पर नियंत्रण – ये दोनों ही प्रक्रियाएँ पैदा हुईं। इन दोनों प्रक्रियाओं के क्या कारण थे?

6. महाशक्तियाँ छोटे देशों के साथ सैन्य गठबंधन क्यों रखती थीं? तीन कारण बताइए?

7. कभी-कभी कहा जाता है कि शीतयुद्ध सीधे तौर पर शक्ति के लिए संघर्ष था और इसका विचारधारा से कोई संबंध नहीं था। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अपने उत्तर के समर्थन में एक उदाहरण दें।

8. शीतयुद्ध के दौरान भारत की अमरीका और सोवियत संघ के प्रति विदेश नीति क्या थी? क्या आप मानते हैं कि इस नीति ने भारत के हितों को आगे बढ़ाया?

9. गुट-निरपेक्ष आंदोलन को तीसरी दुनिया के देशों ने तीसरे विकल्प के रूप में समझा। जब शीतयुद्ध अपने शिखर पर था तब इस विकल्प ने तीसरी दुनिया के देशों के विकास में कैसे मदद पहुँचाई?

10. 'गुट-निरपेक्ष आंदोलन अब अप्रासंगिक हो गया है'। आप इस कथन के बारे में क्या सोचते हैं। अपने उत्तर के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करें।

अध्याय 2

दो ध्रुवीयता का अंत

परिचय

शीतयुद्ध के सबसे सरग़र्म दौर में बर्लिन-दीवार खड़ी की गई थी और यह दीवार शीतयुद्ध का सबसे बड़ा प्रतीक थी। 1989 में पूर्वी जर्मनी की आम जनता ने इस दीवार को गिरा दिया। इस नाटकीय घटना के बाद और भी नाटकीय तथा ऐतिहासिक घटनाक्रम सामने आया। इसकी परिणति दूसरी दुनिया के पतन और शीतयुद्ध की समाप्ति में हुई। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विभाजित हो चुके जर्मनी का अब एकीकरण हो गया। सोवियत संघ के खेमे में शामिल पूर्वी यूरोप के आठ देशों ने एक-एक करके जनता के प्रदर्शनों को देखकर अपने साम्यवादी शासन को बदल डाला। शीतयुद्ध के अंत के समय सोवियत संघ को यह सब चुपचाप देखते रहना पड़ा। ऐसा किसी सैन्य मजबूरी से नहीं, बल्कि आम जनता की सामूहिक कार्रवाई के दबाव के कारण हुआ। अंत में स्वयं सोवियत संघ का विघटन हो गया। इस अध्याय में हम दूसरी दुनिया के विघटन के आशय, कारण और परिणामों के बारे में चर्चा करेंगे। हम यह भी चर्चा करेंगे कि सोवियत शासन के पतन के बाद दुनिया के इस हिस्से में क्या हुआ और अब इन देशों से भारत के रिश्ते कैसे हैं।

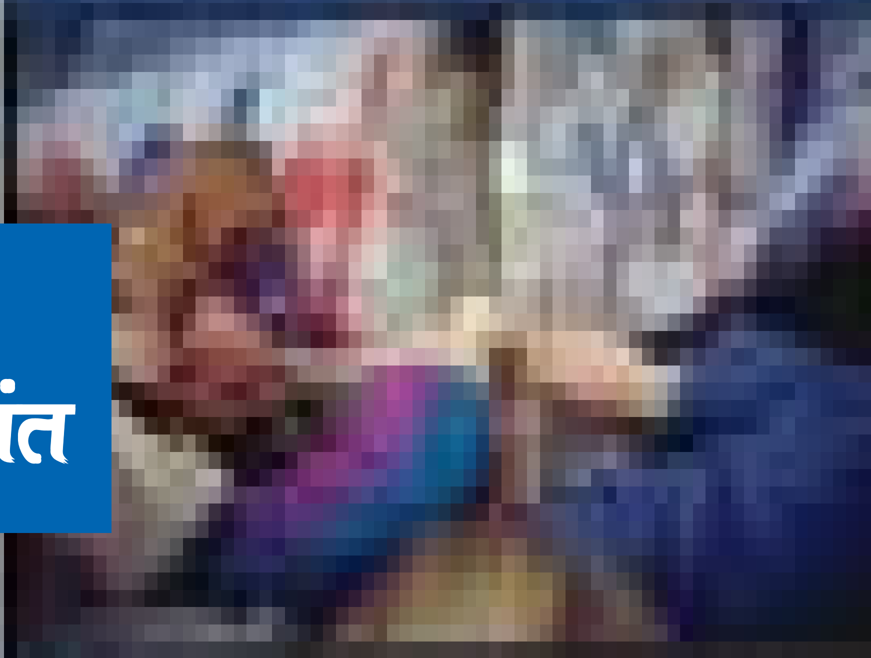

बर्लिन की दीवार पूँजीवादी दुनिया और साम्यवादी दुनिया के बीच विभाजन का प्रतीक थी। 1961 में बनी यह दीवार पश्चिमी बर्लिन को पूर्वी बर्लिन से अलगाती थी। 150 किलोमीटर से भी ज्यादा लंबी यह दीवार 28 वर्षों तक खड़ी रही और आखिरकार जनता ने इसे 9 नवंबर, 1989 को तोड़ दिया। यह दोनों जर्मनी के एकीकरण और साम्यवादी खेमे की समाप्ति की शुरुआत थी। यहाँ दिए गए चित्र इसी कथाक्रम को सामने रखते हैं।

1. लोग दीवार में छोटा सा छेद कर रहें हैं।
2. मुक्त आवागमन को संभव बनाने के लिए दीवार के एक हिस्से को गिरा दिया गया है।
3. 1989 से पहले बर्लिन की दीवार

चित्र फ्रेडरिक रेम और यूनिवर्सिटी ऑफ यूटाह से साभार

सोवियत संघ के नेता

व्लादिमीर लेनिन (1870-1924) बोल्शेविक कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक; 1917 की रूसी क्रांति के नायक और क्रांति के बाद के सबसे मुश्किल दौर (1917-1924) में सोवियत समाजवादी गणराज्य के संस्थापक-अध्यक्ष; मार्क्सवाद के असाधारण सिद्धांतकार और उसे अमली जामा पहनाने में महारथी; पूरी दुनिया में साम्यवाद के प्रेरणास्रोत।

सोवियत प्रणाली क्या थी?

समाजवादी सोवियत गणराज्य (यू.एस.एस.आर.) रूस में हुई 1917 की समाजवादी क्रांति के बाद अस्तित्व में आया। यह क्रांति पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध में हुई थी और समाजवाद के आदर्शों और समतामूलक समाज की ज़रूरत से प्रेरित थी। यह मानव इतिहास में निजी संपत्ति की संस्था को समाप्त करने और समाज को समानता के सिद्धांत पर सचेत रूप से रचने की सबसे बड़ी कोशिश थी। ऐसा करने में सोवियत प्रणाली के निर्माताओं ने राज्य और 'पार्टी की संस्था' को प्राथमिक महत्त्व दिया। सोवियत राजनीतिक प्रणाली की धुरी कम्युनिस्ट पार्टी थी। इसमें किसी अन्य राजनीतिक दल या विपक्ष के लिए जगह नहीं थी। अर्थव्यवस्था योजनाबद्ध और राज्य के नियंत्रण में थी।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के देश सोवियत संघ के अंकुश में आ गये। सोवियत सेना ने इन्हें फासीवादी ताकतों के चंगुल से मुक्त कराया था। इन सभी देशों की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को सोवियत संघ की समाजवादी प्रणाली की तर्ज पर ढाला गया। इन्हें ही समाजवादी खेमे के देश या 'दूसरी दुनिया' कहा जाता है। इस खेमे का नेता समाजवादी सोवियत गणराज्य था।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ महाशक्ति के रूप में उभरा। अमरीका को छोड़ दें तो सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था शेष विश्व की तुलना में कहीं ज्यादा विकसित थी। सोवियत संघ की संचार प्रणाली बहुत उन्नत थी। उसके पास विशाल ऊर्जा-संसाधन था जिसमें खनिज-तेल, लोहा और इस्पात तथा मशीनरी उत्पाद शामिल हैं। सोवियत संघ के दूर-दराज के इलाके भी आवागमन की सुव्यवस्थित और विशाल प्रणाली के कारण आपस में जुड़े हुए थे। सोवियत संघ का घरेलू उपभोक्ता-उद्योग भी बहुत उन्नत था और पिन से लेकर कार तक सभी चीजों का उत्पादन वहाँ होता था। हालाँकि सोवियत संघ के उपभोक्ता उद्योग में बनने वाली वस्तुएँ गुणवत्ता के लिहाज से पश्चिमी देशों के स्तर की नहीं थीं लेकिन सोवियत संघ की सरकार ने अपने सभी नागरिकों के लिए एक न्यूनतम जीवन स्तर सुनिश्चित कर दिया था। सरकार बुनियादी ज़रूरत की चीजें मसलन स्वास्थ्य-सुविधा, शिक्षा, बच्चों की देखभाल तथा लोक-कल्याण की अन्य चीजें रियायती दर पर मुहैया कराती थी। बेरोजगारी नहीं थी। मिल्कियत का प्रमुख रूप राज्य का स्वामित्व था तथा भूमि और अन्य उत्पादक संपदाओं पर स्वामित्व होने के अलावा नियंत्रण भी राज्य का ही था।

बहरहाल, सोवियत प्रणाली पर नौकरशाही का शिकंजा कसता चला गया। यह प्रणाली सत्तावादी होती गई और नागरिकों का जीवन कठिन होता चला गया। लोकतंत्र और अभिव्यक्ति की आज़ादी नहीं होने के कारण लोग अपनी असहमति अक्सर चुटकुलों और कार्टूनों में व्यक्त करते थे। सोवियत संघ की अधिकांश संस्थाओं में सुधार की ज़रूरत थी। सोवियत संघ में एक दल यानी कम्युनिस्ट पार्टी का शासन था और इस दल का सभी संस्थाओं पर गहरा अंकुश था। यह दल जनता के प्रति जवाबदेह नहीं था। जनता ने अपनी संस्कृति और बाकी मामलों की साज-संभाल अपने आप करने के लिए 15 गणराज्यों को आपस में मिलाकर सोवियत संघ बनाया था। लेकिन पार्टी ने जनता की इस इच्छा को पहचानने से इंकार कर दिया। हालाँकि सोवियत संघ के नक्शे में रूस, संघ के पन्द्रह गणराज्यों में से एक था लेकिन वास्तव में रूस का हर मामले में प्रभुत्व था। अन्य क्षेत्रों की जनता अक्सर उपेक्षित और दमित महसूस करती थी।

हथियारों की होड़ में सोवियत संघ ने समय-समय पर अमरीका को बराबर की टक्कर दी लेकिन उसे इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। सोवियत संघ प्रौद्योगिकी और बुनियादी ढाँचे (मसलन - परिवहन, ऊर्जा) के मामले में पश्चिमी देशों की तुलना में पीछे रह गया। लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सोवियत संघ अपने नागरिकों की राजनीतिक और आर्थिक आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सका। सोवियत संघ ने 1979 में अफ़गानिस्तान में हस्तक्षेप किया। इससे सोवियत संघ की व्यवस्था और भी कमजोर हुई। हालाँकि सोवियत संघ में लोगों का पारिश्रमिक लगातार बढ़ा लेकिन उत्पादकता और प्रौद्योगिकी के मामले में वह पश्चिम के देशों से बहुत पीछे छूट गया। इससे हर तरह की उपभोक्ता - वस्तु की कमी हो गई। खाद्यान्न का आयात साल-दर-साल बढ़ता गया। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में यह व्यवस्था लड़खड़ा रही थी और अंततः ठहर सी गयी।

गोर्बाचेव और सोवियत संघ का विघटन

मिख़ाइल गोर्बाचेव ने इस व्यवस्था को सुधारना चाहा। वे 1980 के दशक के मध्य में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव बने। पश्चिम के देशों में सूचना और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में क्रांति हो रही थी और सोवियत संघ को इसकी बराबरी में लाने के लिए सुधार ज़रूरी हो गए थे। गोर्बाचेव ने पश्चिम के देशों के साथ संबंधों को सामान्य बनाने, सोवियत संघ को लोकतांत्रिक रूप देने और वहाँ सुधार करने का फ़ैसला किया। इस फ़ैसले की कुछ ऐसी भी परिणतियाँ रहीं जिनका किसी को कोई अंदाजा नहीं था। पूर्वी यूरोप के देश सोवियत खेमे के हिस्से थे। इन देशों की जनता ने अपनी सरकारों और सोवियत नियंत्रण का विरोध करना शुरू कर दिया। गोर्बाचेव के शासक रहते सोवियत संघ ने ऐसी गड़बड़ियों में उस तरह का हस्तक्षेप नहीं किया जैसा अतीत में होता था। पूर्वी यूरोप की साम्यवादी सरकारें एक के बाद एक गिर गईं।

सोवियत संघ के बाहर हो रहे इन परिवर्तनों के साथ-साथ अंदर भी संकट गहराता जा रहा था और इससे सोवियत संघ के विघटन की गति और तेज हुई। गोर्बाचेव ने देश के अंदर आर्थिक-राजनीतिक सुधारों और लोकतंत्रीकरण की नीति चलायी। इन सुधार नीतियों का कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं द्वारा विरोध किया गया।

1991 में एक तख़्तापलट भी हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े गरमपंथियों ने इसे बढ़ावा दिया था। तब तक जनता को स्वतंत्रता का स्वाद मिल चुका था और वे कम्युनिस्ट पार्टी के पुरानी रंगत वाले शासन में नहीं जाना चाहते थे। येल्तसिन ने इस तख़्तापलट के विरोध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और वे नायक की तरह उभरे। रूसी गणराज्य ने, जहाँ बोरिस येल्तसिन ने आम चुनाव जीता था, केंद्रीकृत नियंत्रण को मानने से इंकार कर दिया। सत्ता मास्को से गणराज्यों की तरफ खिसकने लगी। ऐसा ख़ासकर सोवियत संघ के उन भागों में हुआ जो ज्यादा यूरोपीकृत थे और अपने को संप्रभु राज्य मानते थे। आश्चर्यजनक तौर पर मध्य-एशियाई गणराज्यों ने अपने लिए स्वतंत्रता की माँग नहीं की। वे 'सोवियत संघ' के साथ ही रहना चाहते थे। सन् 1991 के दिसम्बर में येल्तसिन के नेतृत्व में सोवियत संघ के तीन बड़े गणराज्य रूस, यूक्रेन और बेलारूस ने सोवियत संघ की समाप्ति की घोषणा की। कम्युनिस्ट पार्टी प्रतिबंधित हो गई और परवर्ती सोवियत गणराज्यों

सोवियत संघ के नेता

जोजेफ स्टालिन
(1879-1953)
लेनिन के उत्तराधिकारी; सोवियत संघ के मजबूत बनने के दौर में (1924-1953) नेतृत्व किया; औद्योगीकरण को तेजी से बढ़ावा और खेती का बलपूर्वक सामूहिकीकरण; दूसरे विश्व युद्ध में जीत का श्रेय; 1930 के दशक के भयानक आतंक, पार्टी के अंदर अपने विरोधियों को कुचलने और तानाशाही रवैये के लिए जिम्मेदार ठहराए गए।

कम्युनिस्ट पार्टी का एक अधिकारी मास्को से रवाना हुआ और सामूहिक खेती के एक 'फार्म' पर आलू की पैदावार को दर्ज करने के लिए पहुँचा।

'किसान साथी, इस साल की पैदावार कैसी रही?' अधिकारी ने पूछा।

'ईश्वर की कृपा से आलू के पहाड़ लग गये हैं' किसान ने बताया।

'लेकिन ईश्वर तो होता नहीं!' अधिकारी ने उनकी बात काटी।

'तो फिर, आलू के पहाड़ भी नहीं होते!' किसान ने जवाब दिया।

सोवियत संघ के नेता

निकिता ख्रुश्चेव
(1894-1971)
सोवियत संघ के राष्ट्रपति (1953-1964); स्टालिन की नेतृत्व-शैली के आलोचक; 1956 में कुछ सुधार लागू किए; पश्चिम के साथ 'शांतिपूर्ण सहअस्तित्व' का सुझाव रखा; हंगरी के जन-विद्रोह के दमन और क्यूबा के मिसाइल संकट में शामिल।

ने पूँजीवाद तथा लोकतंत्र को अपना आधार बनाया।

साम्यवादी सोवियत गणराज्य के विघटन की घोषणा और स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रकुल (कॉमनवेल्थ ऑव इंडिपेंडेंट स्टेट्स) का गठन बाकी गणराज्यों, खासकर मध्य एशियाई गणराज्यों के लिए बहुत आश्चर्यचकित करने वाला था। ये गणराज्य अभी 'स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रकुल' से बाहर थे। इस मुद्दे को तुरंत हल कर लिया गया। इन्हें 'राष्ट्रकुल' का संस्थापक सदस्य बनाया गया। रूस को सोवियत संघ का उत्तराधिकारी राज्य स्वीकार किया गया। रूस को सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ की सीट मिली। सोवियत संघ ने जो अंतर्राष्ट्रीय करार और संधियाँ की थीं उन सब को निभाने का जिम्मा अब रूस का था। सोवियत संघ के विघटन के बाद के समय में पूर्ववर्ती गणराज्यों के बीच एकमात्र परमाणु शक्ति संपन्न देश का दर्ज़ा रूस को मिला। उसने अमरीका के साथ परमाणु निरस्त्रीकरण की दिशा में कुछ कदम भी उठाए। सोवियत संघ अब नहीं रहा; वह दफ़न हो चुका था।

सोवियत संघ का विघटन क्यों हुआ?

विश्व की दूसरी सबसे बड़ी महाशक्ति अचानक कैसे बिखर गई? सिर्फ़ सोवियत संघ और साम्यवाद के अंत को समझने के लिए ही यह सवाल पूछना ज़रूरी नहीं। यह सवाल किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के पतन को समझने के लिए ज़रूरी है क्योंकि सोवियत संघ के रूप में न तो कोई राज-व्यवस्था पहली बार टूटी है और न ही आखिरी बार। सोवियत संघ के विघटन के कुछ विशेष कारण ज़रूर हो सकते हैं लेकिन इस मामले से हम एक सर्व-सामान्य सबक सीख सकते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि सोवियत संघ की राजनीतिक-आर्थिक संस्थाएँ अंदरुनी कमजोरी के कारण लोगों की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकीं। यही सोवियत संघ के पतन का कारण रहा। कई सालों तक अर्थव्यवस्था गतिरुद्ध रही। इससे उपभोक्ता-वस्तुओं की बड़ी कमी हो गई और सोवियत संघ की आबादी का एक बड़ा हिस्सा अपनी राजव्यवस्था को शक की नज़र से देखने लगा; उस पर खुलेआम सवाल खड़े करने शुरू किए।

यह व्यवस्था इतनी कमज़ोर कैसे हुई और अर्थव्यवस्था में गतिरोध क्यों आया? इसका उत्तर काफी हद तक साफ है। इस सिलसिले में एक बात एकदम स्पष्ट है कि सोवियत संघ ने अपने संसाधनों का अधिकांश परमाणु हथियार और सैन्य साजो-सामान पर लगाया। उसने अपने संसाधन पूर्वी यूरोप के अपने पिछलग्गू देशों के विकास पर भी खर्च किए ताकि वे सोवियत नियंत्रण में बने रहें। इससे सोवियत संघ पर गहरा आर्थिक दबाव बना और सोवियत व्यवस्था इसका सामना नहीं

मैं हैरान हूँ! आखिर दुनियाभर के इतने सारे संजीदा लोगों ने ऐसी व्यवस्था को क्यों सराहा?

कर सकी। इसी के साथ एक और बात हुई। पश्चिमी मुल्कों की तरक्की के बारे में सोवियत संघ के आम नागरिकों की जानकारी बढ़ी। वे अपनी राजव्यवस्था और पश्चिमी देशों की राजव्यवस्था के बीच मौजूद अंतर भांप सकते थे। सालों से इन लोगों को बताया जा रहा था कि सोवियत राजव्यवस्था पश्चिम के पूँजीवाद से बेहतर है लेकिन सच्चाई यह थी कि सोवियत संघ पिछड़ चुका था और अपने पिछड़ेपन की पहचान से लोगों को राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक रूप से धक्का लगा।

सोवियत संघ प्रशासनिक और राजनीतिक रूप से गतिरुद्ध हो चुका था। सोवियत संघ पर कम्युनिस्ट पार्टी ने 70 सालों तक शासन किया और यह पार्टी अब जनता के प्रति जवाबदेह नहीं रह गई थी। गतिरुद्ध प्रशासन, भारी भ्रष्टाचार और अपनी ग़लतियों को सुधारने में व्यवस्था की अक्षमता, शासन में ज्यादा खुलापन लाने के प्रति अनिच्छा और देश की विशालता के बावजूद सत्ता का केंद्रीकृत होना – इन सारी बातों के कारण आम जनता अलग-थलग पड़ गई। इससे भी बुरी बात यह थी कि 'पार्टी' के अधिकारियों को आम नागरिक से ज्यादा विशेषाधिकार मिले हुए थे। लोग अपने को राजव्यवस्था और शासकों से जोड़कर नहीं देख पा रहे थे और सरकार का जनाधार खिसकता चला गया।

मिख़ाइल गोर्बाचेव के सुधारों में इन दोनों समस्याओं के समाधान का वायदा था। गोर्बाचेव ने अर्थव्यवस्था को सुधारने, पश्चिम की बराबरी पर लाने और प्रशासनिक ढाँचे में ढील देने का वायदा किया। गोर्बाचेव तो रोग का ठीक-ठीक निदान कर रहे थे और सुधारों को लागू करने का उनका प्रयास भी ठीक था – ऐसे में आपको आश्चर्य हो सकता है कि फिर सोवियत संघ टूटा क्यों? इस बिंदु पर आकर उत्तर ज्यादा विवादित हो जाते हैं। इस स्थिति को हमें आगे के इतिहासकार शायद ज्यादा बेहतर ढंग से समझा पाएं।

सबसे सटीक उत्तर तो यह जान पड़ता है कि जब गोर्बाचेव ने सुधारों को लागू किया और व्यवस्था में ढील दी तो लोगों की आकांक्षाओं-अपेक्षाओं का ऐसा ज्वार उमड़ा जिसका अनुमान शायद ही कोई लगा सकता था। इस पर काबू पाना एक अर्थ में असंभव हो गया। सोवियत संघ में जनता के एक तबके की सोच यह थी कि गोर्बाचेव को ज्यादा तेज गति से कदम उठाने चाहिए। ये लोग उनकी कार्यपद्धति से धीरज खो बैठे और निराश हो गए। इन लोगों ने जैसा सोचा था वैसा फायदा उन्हें नहीं हुआ या संभव है उन्हें बहुत धीमी गति से फायदा हो रहा हो। जनता के एक हिस्से ख़ासकर, कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य और वे लोग जो सोवियत व्यवस्था से फायदे में थे, के विचार ठीक इसके विपरीत थे। इनका कहना था कि हमारी सत्ता और विशेषाधिकार अब कम हो रहे हैं और गोर्बाचेव बहुत जल्दबाजी दिखा रहे हैं। इस खींचतान में गोर्बाचेव का समर्थन हर तरफ से जाता रहा और जनमत आपस में बँट गया। जो लोग उनके साथ थे उनका भी मोहभंग हुआ। ऐसे लोगों ने सोचा कि गोर्बाचेव खुद अपनी ही नीतियों का ठीक तरह से बचाव नहीं कर पा रहे हैं।

इन सारी बातों के बावजूद संभवत: सोवियत संघ का विघटन न होता। लेकिन, एक घटना ने अधिकांश पर्यवेक्षकों को चौंकाया और सोवियत व्यवस्था के अंदर के लोग भी इससे दंग रह गए। यह घटना थी राष्ट्रवादी भावनाओं और संप्रभुता की इच्छा के उभार की। रूस और बाल्टिक गणराज्य (एस्टोनिया, लताविया और लिथुआनिया), उक्रेन तथा जार्जिया जैसे

सोवियत संघ के नेता

लिओनिड ब्रेझनेव
(1906-1982)
सोवियत संघ के राष्ट्रपति (1964-1982); एशिया की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का सुझाव दिया; अमरीका के साथ संबंधों में तनाव की कमी के दौर से संबंद्ध; चेकोस्लोवाकिया के जन-विद्रोह के दमन और अफगानिस्तान पर आक्रमण में शामिल।

सोवियत संघ के नेता

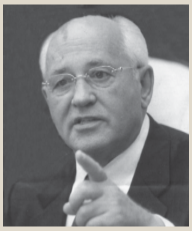

मिख़ाइल गोर्बाचेव (जन्म 1931) सोवियत संघ के अंतिम राष्ट्रपति (1985-1991); पेरेस्त्रोइका (पुनर्रचना) और ग्लासनोस्त (खुलेपन) के आर्थिक और राजनीतिक सुधार शुरू किए; अमरीका के साथ हथियारों की होड़ पर रोक लगाई; अफगानिस्तान और पूर्वी यूरोप से सोवियत सेना वापस बुलाई; जर्मनी के एकीकरण में सहायक; शीतयुद्ध समाप्त किया; सोवियत संघ के विघटन का आरोप लगा।

सोवियत संघ के विघटन का घटना-चक्र

मार्च 1985	: मिख़ाइल गोर्बाचेव सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव चुने गए। बोरिस येल्तसिन को रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रमुख बनाया। सोवियत संघ में सुधारों की श्रृंखला शुरू की।
1988	: लिथुआनिया में आज़ादी के लिए आंदोलन शुरू। एस्टोनिया और लताविया में भी फैला।
अक्टूबर 1989	: सोवियत संघ की घोषणा कि 'वारसा समझौते' के सदस्य अपना भविष्य तय करने के लिए स्वतंत्र हैं। नवंबर में बर्लिन की दीवार गिरी।
फरवरी 1990	: गोर्बाचेव ने सोवियत संसद ड्यूमा के चुनाव के लिए बहुदलीय राजनीति की शुरुआत की। सोवियत सत्ता पर कम्युनिस्ट पार्टी का 72 वर्ष पुराना एकाधिकार समाप्त।
जून 1990	: रूसी संसद ने सोवियत संघ से अपनी स्वतंत्रता घोषित की।
मार्च 1990	: लिथुआनिया स्वतंत्रता की घोषणा करने वाला पहला सोवियत गणराज्य बना।
जून 1991	: येल्तसिन का कम्युनिस्ट पार्टी से इस्तीफा। रूस के राष्ट्रपति बने।
अगस्त 1991	: कम्युनिस्ट पार्टी के गरमपंथियों ने गोर्बाचेव के ख़िलाफ एक असफल तख़्तापलट किया।
सितंबर 1991	: एस्टोनिया, लताविया और लिथुआनिया, तीनों बाल्टिक गणराज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बने। (मार्च 2004 में उत्तर अटलांटिक संधि संगठन में शामिल)
दिसंबर 1991	: रूस, बेलारूस और उक्रेन ने 1922 की सोवियत संघ के निर्माण से संबद्ध संधि को समाप्त करने का फैसला किया और स्वतंत्र राष्ट्रों का राष्ट्रकुल बनाया। आर्मेनिया, अजरबैजान, माल्दोवा, कज़ाकिस्तान, किरगिझस्तान, ताज़िकिस्तान, तुर्क़मेनिस्तान और उज़्बेकिस्तान भी राष्ट्रकुल में शामिल। जार्जिया 1993 में राष्ट्रकुल का सदस्य बना। संयुक्त राष्ट्रसंघ में सोवियत संघ की सीट रूस को मिली।
25 **दिसंबर**, 1991	: गोर्बाचेव ने सोवियत संघ के राष्ट्रपति के पद से इस्तीफा दिया। सोवियत संघ का अंत।

सोवियत संघ के विभिन्न गणराज्य इस उभार में शामिल थे। राष्ट्रीयता और संप्रभुता के भावों का उभार सोवियत संघ के विघटन का अंतिम और सर्वाधिक तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ। इस मसले पर भी अलग-अलग राय मिलती है।

एक विचार तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना और तड़प सोवियत संघ के समूचे इतिहास में कहीं-न-कहीं जारी थी और चाहे सुधार होते या न होते, सोवियत संघ में अंदरूनी संघर्ष होना ही था। खैर! यह तो इतिहास की अनिवार्यता के बारे में अनुमान लगाना हुआ लेकिन सोवियत संघ के आकार, विविधता तथा इसकी बढ़ती हुई आंतरिक समस्याओं को देखते हुए ऐसा सोचना असंगत भी नहीं है। कुछ अन्य लोग सोचते हैं कि गोर्बाचेव के सुधारों ने राष्ट्रवादियों के असंतोष को इस सीमा तक भड़काया कि उस पर शासकों का नियंत्रण नहीं रहा।

विडंबना यह है कि शीतयुद्ध के दौरान बहुत-से लोग सोचते थे कि सोवियत संघ के मध्य-एशियाई गणराज्यों में राष्ट्रवादी आकांक्षाओं का उभार सबसे दमदार होगा क्योंकि ये गणराज्य रूस से धार्मिक और नस्ली लिहाज से अलग और आर्थिक रूप से पिछड़े हुए थे। लेकिन हुआ यह कि सोवियत संघ के प्रति राष्ट्रवादी असंतोष यूरोपीय और अपेक्षाकृत समृद्ध गणराज्यों - रूस, उक्रेन, जार्जिया और बाल्टिक क्षेत्र में सबसे प्रबल नज़र आया। यहाँ के आम लोग अपने को मध्य एशियाई गणराज्यों के लोगों से अलग-थलग महसूस कर रहे थे। इनका आपस में भी अलगाव था। इन गणराज्यों के लोगों में यह भाव घर कर गया कि ज्यादा पिछड़े इलाकों को सोवियत संघ में शामिल रखने की उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ रही है।

विघटन की परिणतियाँ

सोवियत संघ की 'दूसरी दुनिया' और पूर्वी यूरोप की समाजवादी व्यवस्था के पतन के परिणाम विश्व राजनीति के लिहाज से गंभीर रहे। इससे मोटे तौर पर तीन प्रकार के दूरगामी परिवर्तन हुए। हर परिवर्तन के बहुत सारे प्रभाव हुए। उन सभी प्रभावों को यहाँ सूचीबद्ध करना उचित नहीं होगा।

अव्वल तो 'दूसरी दुनिया' के पतन का एक परिणाम शीतयुद्ध के दौर के संघर्ष की समाप्ति में हुआ। समाजवादी प्रणाली पूँजीवादी प्रणाली को पछाड़ पाएगी या नहीं - यह विचारधारात्मक विवाद अब कोई मुद्दा नहीं रहा। शीतयुद्ध के इस विवाद ने दोनों गुटों की सेनाओं को उलझाया था, हथियारों की तेज होड़ शुरू की थी, परमाणु हथियारों के संचय को बढ़ावा दिया था तथा विश्व को सैन्य गुटों में बाँटा था। शीतयुद्ध के समाप्त होने से हथियारों की होड़ भी समाप्त हो गई और एक नई शांति की संभावना का जन्म हुआ।

दूसरा यह कि विश्व राजनीति में शक्ति-संबंध बदल गए और इस कारण विचारों और संस्थाओं के आपेक्षिक प्रभाव में भी बदलाव आया। शीतयुद्ध के अंत के समय केवल दो संभावनाएँ थीं- या तो बची हुई महाशक्ति का दबदबा रहेगा और एकध्रुवीय विश्व बनेगा या फिर कई देश अथवा देशों के अलग-अलग समूह अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण मोहरे बनकर उभरेंगे और इस तरह बहुध्रुवीय विश्व बनेगा जहाँ किसी एक देश का बोलबाला नहीं होगा। हुआ यह कि अमरीका अकेली महाशक्ति बन बैठा। अमरीका की ताकत और प्रतिष्ठा की शह पाने से अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रभुत्वशाली अर्थव्यवस्था है। विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाएँ विभिन्न

सोवियत संघ के नेता

बोरिस येल्तसिन
(जन्म 1931)
रूस के पहले चुने हुए राष्ट्रपति (1991-1999); कम्युनिस्ट पार्टी में सत्ता केंद्र तक पहुँचे; गोर्बाचेव द्वारा मास्को के मेयर बनाए गए; बाद में गोर्बाचेव के आलोचकों में शामिल और कम्युनिस्ट पार्टी से इस्तीफा; 1991 में सोवियत संघ के शासन के खिलाफ विरोध का नेतृत्व; सोवियत संघ के विघटन में केंद्रीय भूमिका निभाई; साम्यवाद से पूँजीवाद की ओर संक्रमण के दौरान रूसी लोगों को हुए कष्ट के लिए जिम्मेदार ठहराया गया।

मैंने किसी को कहते हुए सुना है कि, 'सोवियत संघ का अंत समाजवाद का अंत नहीं है'। क्या यह संभव है?

देशों की ताकतवर सलाहकार बन गईं क्योंकि इन देशों को पूँजीवाद की ओर कदम बढ़ाने के लिए इन संस्थाओं ने कर्ज़ दिया है। राजनीतिक रूप से उदारवादी लोकतंत्र राजनीतिक जीवन को सूत्रबद्ध करने की सर्वश्रेष्ठ धारणा के रूप में उभरा है।

तीसरी बात यह कि सोवियत खेमे के अंत का एक अर्थ था नए देशों का उदय। इन सभी देशों की स्वतंत्र पहचान और पसंद है। इनमें से कुछ देश, ख़ासकर बाल्टिक और पूर्वी यूरोप के देश 'यूरोपीय संघ' से जुड़ना और उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) का हिस्सा बनना चाहते थे। मध्य एशियाई देश अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति का फायदा उठाना चाहते थे। इन देशों ने रूस के साथ अपने मजबूत रिश्ते को जारी रखा और पश्चिमी देशों, अमरीका, चीन तथा अन्य देशों के साथ संबंध बनाए। इस तरह अंतर्राष्ट्रीय फलक पर कई नए खिलाड़ी सामने आये। हरेक के हित, पहचान और आर्थिक-राजनीतिक समस्याएँ अलग-अलग थीं। आगे इन्हीं मुद्दों पर चर्चा की जाएगी।

साम्यवादी शासन के बाद 'शॉक थेरेपी'

साम्यवाद के पतन के बाद पूर्व सोवियत संघ के गणराज्य एक सत्तावादी, समाजवादी व्यवस्था से लोकतांत्रिक पूँजीवादी व्यवस्था तक के

'स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रकुल' का राजनीतिक मानचित्र, 1997

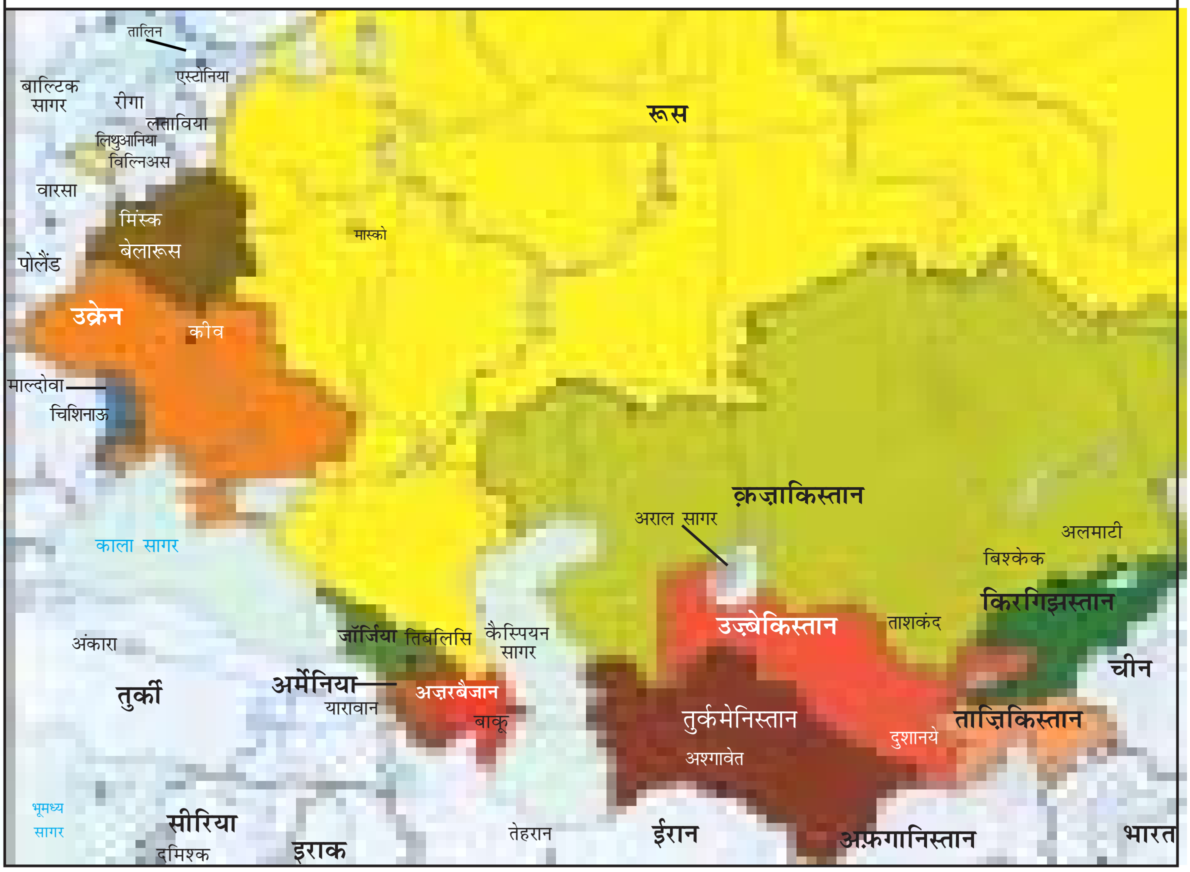

मानचित्र पर स्वतंत्र मध्य एशियाई देशों को चिह्नित करें।

"यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्सास लाइब्रेरीज़, आस्टिन से साभार"

कष्टप्रद संक्रमण से होकर गुजरे। रूस, मध्य एशिया के गणराज्य और पूर्वी यूरोप के देशों में पूँजीवाद की ओर संक्रमण का एक खास मॉडल अपनाया गया। विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्देशित इस मॉडल को 'शॉक थेरेपी' (आघात पहुँचाकर उपचार करना) कहा गया। भूतपूर्व 'दूसरी दुनिया' के देशों में शॉक थेरेपी की गति और गहनता अलग-अलग रही लेकिन इसकी दिशा और चरित्र बड़ी सीमा तक एक जैसे थे।

हर देश को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर पूरी तरह मुड़ना था। इसका मतलब था सोवियत संघ के दौर की हर संरचना से पूरी तरह निजात पाना। 'शॉक थेरेपी' की सर्वोपरि मान्यता थी कि मिल्कियत का सबसे प्रभावी रूप निजी स्वामित्व होगा। इसके अंतर्गत राज्य की संपदा के निजीकरण और व्यावसायिक स्वामित्व के ढाँचे को तुरंत अपनाने की बात शामिल थी। सामूहिक 'फार्म' को निजी 'फार्म' में बदला गया और पूँजीवादी पद्धति से खेती शुरू हुई। इस संक्रमण में राज्य नियंत्रित समाजवाद या पूँजीवाद के अतिरिक्त किसी भी वैकल्पिक व्यवस्था या 'तीसरे रुख़' को मंजूर नहीं किया गया।

'शॉक थेरेपी' से इन अर्थव्यवस्थाओं के बाहरी व्यवस्थाओं के प्रति रुझान बुनियादी तौर पर बदल गए। अब माना जाने लगा कि ज्यादा से ज्यादा व्यापार करके ही विकास किया जा सकता है। इस कारण 'मुक्त व्यापार' को पूर्ण रूप से अपनाना ज़रूरी माना गया। पूँजीवादी व्यवस्था को अपनाने के लिए वित्तीय खुलापन, मुद्राओं की आपसी परिवर्तनीयता और मुक्त व्यापार की नीति महत्त्वपूर्ण मानी गई।

अंततः इस संक्रमण में सोवियत खेमे के देशों के बीच मौजूद व्यापारिक गठबंधनों को समाप्त कर दिया गया। खेमे के प्रत्येक देश को एक-दूसरे से जोड़ने की जगह सीधे पश्चिमी मुल्कों से जोड़ा गया। इस तरह धीरे-धीरे इन देशों को पश्चिमी अर्थतंत्र में समाहित किया गया। पश्चिमी दुनिया के पूँजीवादी देश अब नेता की भूमिका निभाते हुए अपनी विभिन्न एजेंसियों और संगठनों के सहारे इस खेमे के देशों के विकास का मार्गदर्शन और नियंत्रण करेंगे।

'शॉक थेरेपी' के परिणाम

1990 में अपनायी गई 'शॉक थेरेपी' जनता को उपभोग के उस 'आनंदलोक' तक नहीं ले गई जिसका उसने वादा किया था। अमूमन 'शॉक थेरेपी' से पूरे क्षेत्र की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गई और इस क्षेत्र की जनता को बर्बादी की मार झेलनी पड़ी। रूस में, पूरा का पूरा राज्य-नियंत्रित औद्योगिक ढाँचा चरमरा उठा। लगभग 90 प्रतिशत उद्योगों को निजी हाथों या कंपनियों को बेचा गया। आर्थिक ढाँचे का यह पुनर्निर्माण चूँकि सरकार द्वारा निर्देशित औद्योगिक नीति के बज़ाय बाज़ार की ताकतें कर रही थीं, इसलिए यह कदम सभी उद्योगों को मटियामेट करने वाला साबित हुआ। इसे 'इतिहास की सबसे बड़ी गराज-सेल' के नाम से जाना जाता है क्योंकि महत्त्वपूर्ण उद्योगों की कीमत कम से कम करके आंकी गई और उन्हें औने-पौने दामों में बेच दिया गया। हालाँकि इस महा-बिक्री में भाग लेने के लिए सभी नागरिकों को अधिकार-पत्र दिए गए थे, लेकिन अधिकांश नागरिकों ने अपने अधिकार-पत्र कालाबाजारियों के हाथों बेच दिये क्योंकि उन्हें धन की ज़रूरत थी।

रूसी मुद्रा रूबल के मूल्य में नाटकीय ढंग से गिरावट आई। मुद्रास्फीति इतनी ज्यादा बढ़ी कि लोगों की जमापूँजी जाती रही।

मुझे 'आघात' तो दीख रहा है लेकिन 'उपचार' कहाँ है? हम इतने बड़े-बड़े जुमलों में क्यों बोलते हैं?

रूस में कुल डेढ़ हज़ार बैंक और अन्य वित्तीय संस्थान थे जिनमें से लगभग आधे 'शॉक थेरेपी' के परिणामस्वरूप दिवालिया हो गए। यह चित्र ऐसे ही एक बैंक इंकॉम का है। रूस के इस दूसरे सबसे बड़े बैंक इंकॉम के दिवालिया होने से ग्राहकों के अलावा दस हज़ार कंपनियों और शेयरधारकों की जमापूँजी भी डूब गई।

आखिर राष्ट्रवाद और अलगाववाद में अंतर क्या है? अगर आप कामयाब हो जाते हैं तो राष्ट्रीय नायक कहलाते हैं और अगर नाकामयाब रह जाते हैं तो अलगाववाद फैलाने के अपराधी ठहराए जाते हैं।

सामूहिक खेती की प्रणाली समाप्त हो चुकी थी और लोगों को अब खाद्यान्न की सुरक्षा मौजूद नहीं रही। रूस ने खाद्यान्न का आयात करना शुरू किया। सन् 1999 में वास्तविक 'सकल घरेलू उत्पाद' 1989 की तुलना में कहीं नीचे था। पुराना व्यापारिक ढाँचा तो टूट चुका था लेकिन इसकी जगह कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं हो पायी थी।

समाज कल्याण की पुरानी व्यवस्था को क्रम से नष्ट किया गया। सरकारी रियायतों के खात्मे के कारण ज्यादातर लोग ग़रीबी में पड़ गए। मध्य वर्ग समाज के हाशिए पर आ गया और अकादमिक- बौद्धिक कामों से जुड़े लोग या तो बिखर गए या बाहर चले गए। कई देशों में एक 'माफिया वर्ग' (जरायमपेशा लोग) उभरा और उसने अधिकतर आर्थिक गतिविधियों को अपने नियंत्रण में ले लिया। निजीकरण ने नई विषमताओं को जन्म दिया। पूर्व सोवियत संघ में शामिल रहे गणराज्यों और खासकर रूस में अमीर और गरीब लोगों के बीच तीखा विभाजन हो गया। पहले की व्यवस्था के विपरीत, अब धनी और निर्धन लोगों के बीच बहुत गहरी आर्थिक असमानता थी।

आर्थिक बदलाव को बड़ी प्राथमिकता दी गई और उस पर पर्याप्त ध्यान भी दिया गया लेकिन लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण का कार्य ऐसी प्राथमिकता के साथ नहीं हो सका। इन सभी देशों के संविधान हड़बड़ी में तैयार किए गए। रूस सहित अधिकांश देशों में राष्ट्रपति को कार्यपालिका प्रमुख बनाया गया और उसके हाथ में लगभग हरसंभव शक्ति थमा दी गई। फलस्वरूप संसद अपेक्षाकृत कमजोर संस्था रह गई। मध्य एशिया के देशों में राष्ट्रपति को बहुत अधिक शक्तियाँ प्राप्त थीं और इनमें से कुछ सत्तावादी हो गए। मिसाल के तौर पर तुर्कमेनिस्तान और उज़्बेकिस्तान के राष्ट्रपतियों ने पहले 10 वर्षों के लिए अपने को इस पद पर बहाल किया और इसके बाद समय-सीमा को अगले 10 सालों के लिए बढ़ा दिया। इन राष्ट्रपतियों ने अपने फैसलों से असहमति या विरोध की अनुमति नहीं दी। अधिकतर देशों में न्यायिक संस्कृति और न्यायपालिका की स्वतंत्रता को स्थापित करने का काम करना अभी भी बाकी है।

रूस सहित अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्था ने सन् 2000 में यानी अपनी आज़ादी के 10 साल बाद खड़ा होना शुरू किया। इन अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्था के पुनर्जीवन का कारण था खनिज - तेल, प्राकृतिक गैस और धातु जैसे प्राकृतिक संसाधनों का निर्यात। रूस, कज़ाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, उज़्बेकिस्तान और अज़रबैजान तेल और गैस के बड़े उत्पादक देश हैं। बाकी देशों को अपने क्षेत्र से तेल की पाईप-लाइन गुजरने के कारण फायदा हुआ। इस एवज में इन्हें किराया मिलता है। एक हद तक विनिर्माण का काम भी फिर शुरू हुआ।

संघर्ष और तनाव

पूर्व सोवियत संघ के अधिकांश गणराज्य संघर्ष की आशंका वाले क्षेत्र हैं। अनेक गणराज्यों ने गृहयुद्ध और बग़ावत को झेला है। इसके साथ-साथ इन देशों में बाहरी ताकतों की दखल भी बढ़ी है। इससे स्थिति और भी जटिल हुई है।

रूस के दो गणराज्यों चेचन्या और दाग़िस्तान में हिंसक अलगाववादी आंदोलन चले। मास्को ने चेचन विद्रोहियों से निपटने के जो तरीके अपनाये और जिस ग़ैर-जिम्मेदार तरीके से सैन्य बमबारी की उसमें मानवाधिकार का व्यापक उल्लंघन हुआ लेकिन इससे आज़ादी की आवाज दबायी नहीं जा सकी।

मध्य एशिया में, तज़िकिस्तान दस वर्षो यानी 2001 तक गृहयुद्ध की चपेट में रहा। इस पूरे क्षेत्र में कई सांप्रदायिक संघर्ष चल रहे हैं। अज़रबैज़ान का एक प्रांत नगरनों कराबाख है। यहाँ के कुछ स्थानीय अर्मेनियाई अलग होकर अर्मेनिया से मिलना चाहते हैं। जार्जिया में दो प्रांत स्वतंत्रता चाहते हैं और गृहयुद्ध लड़ रहे हैं। यूक्रेन, किरगिझस्तान तथा जार्जिया में मौजूदा शासन को उखाड़ फेकने के लिए आंदोलन चल रहे हैं। कई देश और प्रांत नदी-जल के सवाल पर आपस में भिड़े हुए हैं। इन सारी बातों की वज़ह से अस्थिरता का माहौल है और आम नागरिक का जीवन दूभर है।

मध्य एशियाई गणराज्यों में हाइड्रोकार्बनिक (पेट्रोलियम) संसाधनों का विशाल भंडार है। इससे इन गणराज्यों को आर्थिक लाभ हुआ है लेकिन इसी कारण से यह क्षेत्र बाहरी ताकतों और तेल कंपनियों की आपसी प्रतिस्पर्धा का अखाड़ा भी बन चला है। यह क्षेत्र रूस, चीन और अफ़गानिस्तान से सटा है तथा पश्चिम एशिया से नजदीक है। 11 सितंबर 2001 की घटना के बाद अमरीका इस क्षेत्र में सैनिक ठिकाना बनाना चाहता था। उसने किराए पर ठिकाने हासिल करने के लिए मध्य एशिया के सभी राज्यों को भुगतान किया और अफ़गानिस्तान तथा इराक में युद्ध के दौरान इन क्षेत्रों से अपने विमानों को उड़ाने की अनुमति ली। रूस इन राज्यों को अपना निकटवर्ती 'विदेश' मानता है और उसका मानना है कि इन राज्यों को रूस के प्रभाव में रहना चाहिए। खनिज-तेल जैसे संसाधन की मौजूदगी के कारण चीन के हित भी इस क्षेत्र से जुड़े हैं और चीनियों ने सीमावर्ती क्षेत्रों में आकर व्यापार करना शुरू कर दिया है।

पूर्वी यूरोप में चेकोस्लोवाकिया शांतिपूर्वक दो भागों में बँट गया। चेक तथा स्लोवाकिया नाम के दो देश बने। लेकिन सबसे गहन संघर्ष बाल्कन क्षेत्र के गणराज्य युगोस्लाविया में हुआ। सन् 1991 में बाद युगोस्लाविया कई प्रांतों में टूट गया और इसमें शामिल बोस्निया-हर्जेगोविना, स्लोवेनिया तथा क्रोएशिया ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। यहाँ 'नाटो' को हस्तक्षेप करना पड़ा; युगोस्लाविया पर बमबारी हुई और जातीय संघर्ष ने गृहयुद्ध का रूप लिया।

खुद करें, खुद समझें

भारत और सोवियत संघ की आर्थिक और राजनीतिक विचारधाराओं की समानताओं की एक सूची बनाएँ।

उज़्बेकिस्तान में हिंदुस्तानी फिल्मों की धूम

सोवियत संघ को विघटित हुए सात साल बीत गये लेकिन हिंदी फिल्मों के लिए उज़्बेक लोगों में वही ललक मौजूद है। हिन्दुस्तान में कोई नई फिल्म रिलीज हुई नहीं कि चंद हफ्तों के भीतर इसकी पाइरेटेड कापियाँ उज़्बेकिस्तान की राजधानी ताशकंद में बिकने के लिए उपलब्ध हो जाती हैं। ताशकंद के एक बड़े बाज़ार के नज़दीक हिन्दी फिल्मों की एक दुकान मुहम्मद शरीफ़ पत की है। मुहम्मद शरीफ़ अफगानी हैं और पाकिस्तान के सीमाप्रांत के शहर पेशावर से वीडियो मंगाते हैं। उनका कहना है – "यहाँ हिंदी फिल्मों के बहुतेरे दीवाने हैं। मैं तो कहूँगा कि ताशकंद के 70 फीसदी लोग इन फिल्मों को खरीदते हैं। हम लोग रोजाना लगभग 100 वीडियो बेच लेते हैं। मैंने अभी-अभी 1000 और वीडियो का 'आर्डर' दिया है। उज़्बेक लोग मध्य एशियाई हैं; वे एशिया के अंग हैं। उनकी एक साझी संस्कृति है। इसी कारण वे लोग भारतीय फिल्मों को पसंद करते हैं।"

साझे इतिहास के बावजूद भारतीय फिल्मों और उनके 'हीरो' के लिए उज़्बेकी लोगों की दीवानगी उज़्बेकिस्तानवासी अनेक भारतीयों को आश्चर्यजनक जान पड़ती है। ताशकंद स्थित भारतीय दूतावास के अशोक शमर बताते हैं– "हम जहाँ भी जाते हैं और स्थानीय अधिकारियों से मिलते हैं – काबीना मंत्री तक – बातचीत में हमेशा इसका जिक्र करते हैं। इससे पता चलता है कि भारतीय फिल्म, संस्कृति, गीत और ख़ास तौर पर राजकपूर यहाँ घर-घर जाने जाते हैं। यहाँ अधिकांश लोग हिंदी गीत गा लेते हैं। अर्थ चाहे न मालूम हों लेकिन उनका उच्चारण सही होता है और वे संगीत भी पकड़ लेते हैं। मैंने पाया कि मेरे सारे पड़ोसी हिंदी गीत बजाते हैं और गा लेते हैं। मैं जब उज़्बेकिस्तान आया तो यह मेरे लिए सचमुच बहुत आश्चर्य की बात थी।"

– बीबीसी के मध्य एशिया संवाददाता लुईस हिदाल्गो की रिपोर्ट

भारत और सोवियत संघ

शीतयुद्ध के दौरान भारत और सोवियत संघ के संबंध बहुत गहरे थे। इससे आलोचकों को यह कहने का अवसर भी मिला कि भारत सोवियत खेमे का हिस्सा था। इस दौरान भारत और सोवियत संघ के संबंध बहुआयामी थे।

आर्थिक – सोवियत संघ ने भारत के सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों की ऐसे वक्त में मदद की जब ऐसी मदद पाना मुश्किल था। सोवियत संघ ने भिलाई, बोकारो और विशाखापट्टनम के इस्पात कारखानों तथा भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स जैसे मशीनरी संयंत्रों के लिए आर्थिक और तकनीकी सहायता दी। भारत में जब विदेशी मुद्रा की कमी थी तब सोवियत संघ ने रुपये को माध्यम बनाकर भारत के साथ व्यापार किया।

राजनीतिक – सोवियत संघ ने कश्मीर मामले पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत के रुख को समर्थन दिया। सोवियत संघ ने भारत के संघर्ष के गाढ़े दिनों, ख़ासकर सन् 1971 में पाकिस्तान से युद्ध के दौरान मदद की। भारत ने भी सोवियत संघ की विदेश नीति का अप्रत्यक्ष, लेकिन महत्त्वपूर्ण तरीके से समर्थन किया।

सैन्य – भारत को सोवियत संघ ने ऐसे वक्त में सैनिक साजो-सामान दिए जब शायद ही कोई अन्य देश अपनी सैन्य टेक्नालॉजी भारत को देने के लिए तैयार था। सोवियत संघ ने भारत के साथ कई ऐसे समझौते किए जिससे भारत संयुक्त रूप से सैन्य उपकरण तैयार कर सका।

संस्कृति – हिंदी फिल्म और भारतीय संस्कृति सोवियत संघ में लोकप्रिय थे। बड़ी संख्या में भारतीय लेखक और कलाकारों ने सोवियत संघ की यात्रा की।

पूर्व-साम्यवादी देश और भारत

भारत ने साम्यवादी रह चुके सभी देशों के साथ अच्छे संबंध कायम किए हैं लेकिन भारत के संबंध रूस के साथ सबसे ज्यादा गहरे हैं। भारत की विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू भारत का रूस के साथ संबंध है। भारत-रूस संबंधों का इतिहास आपसी विश्वास और साझे हितों का इतिहास है। भारत-रूस के आपसी संबंध इन देशों की जनता की अपेक्षाओं से मेल खाते हैं। भारतीय हिन्दी फिल्मों के नायकों में राजकपूर से लेकर अमिताभ बच्चन तक रूस और पूर्व सोवियत संघ के बाकी गणराज्यों में घर-घर जाने जाते हैं। आप इस क्षेत्र में हिंदी फिल्मी गीत बजते सुन सकते हैं और भारत यहाँ के जनमानस का एक अंग है।

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- सोवियत और अमरीकी दोनों खेमों के शीतयुद्ध के दौर के पाँच-पाँच देशों को चुनें।
- इसी के अनुरूप कक्षा में समूह बनायें। हर समूह को एक देश का जिम्मा सौंपें। प्रत्येक समूह अपने-अपने हिस्से के देश के बारे में यह जानकारी जुटाए कि शीतयुद्ध के दौर में वहाँ के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक हालात कैसे थे?
- हर समूह यह जानकारी भी जुटाए की साम्यवाद के पतन के बाद उस देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति क्या हुई। संभव हो तो हर समूह यह भी बताए कि दूसरी दुनिया के विघटन का प्रभाव उस देश पर क्या हुआ?
- हर समूह अपने निष्कर्ष कक्षा के सामने रखे। इन देशों के लोग बतौर नागरिक अपने बारे में क्या महसूस कर रहे थे – इस विषय पर छात्रों की बातचीत को सुनिश्चित करें।

अध्यापकों के लिए

- आप छात्रों के निष्कर्ष को लोकतांत्रिक और साम्यवादी व्यवस्था के सिद्धांत और व्यवहार से जोड़ सकते हैं और प्रत्येक के गुण-दोष को रेखांकित कर सकते हैं।
- क्या साम्यवाद और पूँजीवाद का कोई विकल्प हो सकता है – छात्रों को इस विषय पर चर्चा करने के लिए बढ़ावा दें।

रूस और भारत दोनों का सपना बहुध्रुवीय विश्व का है। बहुध्रुवीय विश्व से इन दोनों देशों का आशय यह है कि अंतर्राष्ट्रीय फलक पर कई शक्तियाँ मौजूद हों; सुरक्षा की सामूहिक जिम्मेदारी हो (यानी किसी भी देश पर हमला हो तो सभी देश उसे अपने लिए खतरा मानें और साथ मिलकर कार्रवाई करें); क्षेत्रीयताओं को ज्यादा जगह मिले; अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों का समाधान बातचीत के द्वारा हो; हर देश की स्वतंत्र विदेश नीति हो और संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्थाओं द्वारा फैसले किए जाएँ तथा इन संस्थाओं को मजबूत, लोकतांत्रिक और शक्तिसंपन्न बनाया जाय। 2001 के भारत-रूस सामरिक समझौते के अंग के रूप में भारत और रूस के बीच 80 द्विपक्षीय दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर हुए हैं।

भारत को रूस के साथ अपने संबंधों के कारण कश्मीर, ऊर्जा-आपूर्ति, अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद से संबंधित सूचनाओं के आदान-प्रदान, पश्चिम एशिया में पहुँच बनाने तथा चीन के साथ अपने संबंधों में संतुलन लाने जैसे मसलों में फायदे हुए हैं। रूस को इस संबंध से सबसे बड़ा फायदा यह है कि भारत रूस के लिए हथियारों का दूसरा सबसे बड़ा खरीददार देश है। भारतीय सेना को अधिकांश सैनिक साजो-सामान रूस से प्राप्त होते हैं। चूँकि भारत तेल के आयातक देशों में से एक है इसलिए भी भारत रूस के लिए महत्त्वपूर्ण है। उसने तेल के संकट की घड़ी में हमेशा भारत की मदद की है। भारत रूस से अपने ऊर्जा-आयात को भी बढ़ाने की कोशिश कर रहा है। ऐसी कोशिश कज़ाकिस्तान और तुर्कमेनिस्तान के साथ भी चल रही है। इन गणराज्यों के साथ सहयोग के अंतर्गत तेल वाले इलाकों में साझेदारी और निवेश करना भी शामिल है। रूस भारत की परमाण्विक योजना के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। रूस ने भारत के अंतरिक्ष उद्योग में भी ज़रूरत के वक्त क्रायोजेनिक रॉकेट देकर मदद की है। भारत और रूस विभिन्न वैज्ञानिक परियोजनाओं में साझीदार हैं।

प्रश्नावली

1. सोवियत अर्थव्यवस्था की प्रकृति के बारे में निम्नलिखित में से कौन-सा कथन ग़लत है?
   (क) सोवियत अर्थव्यवस्था में समाजवाद प्रभावी विचारधारा थी।
   (ख) उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व/नियंत्रण होना।
   (ग) जनता को आर्थिक आज़ादी थी।
   (घ) अर्थव्यवस्था के हर पहलू का नियोजन और नियंत्रण राज्य करता था।
2. निम्नलिखित को कालक्रमानुसार सजाएँ?
   (क) अफ़गान-संकट
   (ख) बर्लिन-दीवार का गिरना
   (ग) सोवियत संघ का विघटन
   (घ) रूसी क्रांति
3. निम्नलिखित में कौन-सा सोवियत संघ के विघटन का परिणाम नहीं है?
   (क) संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच विचारधारात्मक लड़ाई का अंत
   (ख) स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रकुल (सीआईएस) का जन्म

प्रश्नावली

(ग) विश्व-व्यवस्था के शक्ति-संतुलन में बदलाव
(घ) मध्यपूर्व में संकट

4. निम्नलिखित में मेल बैठाएं –

(1) मिख़ाइल गोर्बाचेव	(क) सोवियत संघ का उत्तराधिकारी
(2) शॉक थेरेपी	(ख) सैन्य समझौता
(3) रूस	(ग) सुधारों की शुरुआत
(4) बोरिस येल्तसिन	(घ) आर्थिक मॉडल
(5) वारसॉ	(ङ) रूस के राष्ट्रपति

5. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।
(क) सोविियत राजनीतिक प्रणाली .... की विचारधारा पर आधारित थी।
(ख) सोवियत संघ द्वारा बनाया गया सैन्य गठबंधन .... था।
(ग) .... पार्टी का सोवियत राजनीतिक व्यवस्था पर दबदबा था।
(घ) .... ने 1985 में सोवियत संघ में सुधारों की शुरुआत की।
(ङ) .... का गिरना शीतयुद्ध के अंत का प्रतीक था।

6. सोवियत अर्थव्यवस्था को किसी पूँजीवादी देश जैसे संयुक्त राज्य अमरीका की अर्थव्यवस्था से अलग करने वाली किन्हीं तीन विशेषताओं का जिक्र करें।

7. किन बातों के कारण गोर्बाचेव सोवियत संघ में सुधार के लिए बाध्य हुए?

8. भारत जैसे देशों के लिए सोवियत संघ के विघटन के क्या परिणाम हुए?

9. शॉक थेरेपी क्या थी? क्या साम्यवाद से पूँजीवाद की तरफ संक्रमण का यह सबसे बेहतर तरीका था?

10. निम्नलिखित कथन के पक्ष या विपक्ष में एक लेख लिखें – ''दूसरी दुनिया के विघटन के बाद भारत को अपनी विदेश-नीति बदलनी चाहिए और रूस जैसे परंपरागत मित्र की जगह संयुक्त राज्य अमरीका से दोस्ती करने पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए।''

अध्याय 3

समकालीन विश्व में अमरीकी वर्चस्व

परिचय

हमने देखा कि शीतयुद्ध के अंत के बाद संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की सबसे बड़ी ताकत बनकर उभरा और दुनिया में कोई उसकी टक्कर का प्रतिद्वंद्वी न रहा। इस घटना के बाद के दौर को अमरीकी प्रभुत्व या एकध्रुवीय विश्व का दौर कहा जाता है। इस अध्याय में हम अमरीकी प्रभुत्व की प्रकृति, विस्तार और सीमाओं को समझने की कोशिश करेंगे। पहले खाड़ी युद्ध से लेकर अमरीकी अगुआई में इराक पर हमले तक घटनाओं का एक सिलसिला है। एकध्रुवीय विश्व के उभार की इस कथा की शुरुआत हम इस घटनाक्रम के जिक्र से करेंगे। इसके बाद हम थोड़ा ठहरकर 'वर्चस्व' की अवधारणा के सहारे इस प्रभुत्व की प्रकृति को समझने के प्रयास करेंगे। अमरीकी वर्चस्व के राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं की जाँच-परख के बाद हम यह देखेंगे कि अमरीका से निबटने के लिए भारत के पास नीतिगत विकल्प क्या हैं। अध्याय के अंत में हम इस बात पर विचार करेंगे कि अमरीकी वर्चस्व के सामने क्या कोई चुनौती आन खड़ी है और क्या अमरीकी वर्चस्व से उबरा जा सकता है?

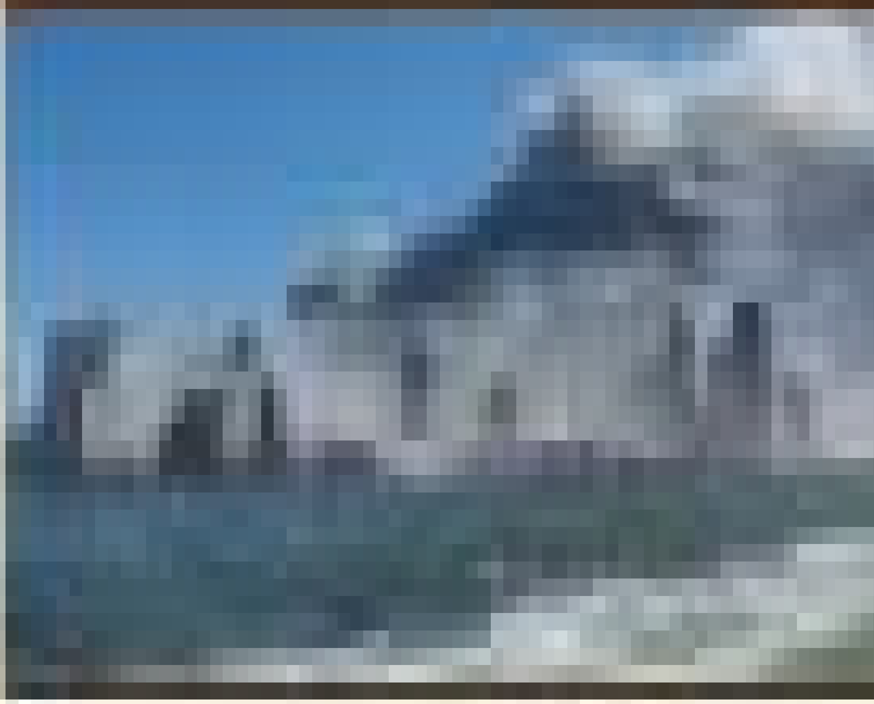

2001 के सितंबर में न्यूयार्क स्थित वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमला हुआ। इसे समकालीन इतिहास की धारा को मोड़ देने वाली घटना के रूप में देखा जाता है। यहाँ हमले और उसके बाद की स्थिति को बयान करती एक तस्वीर दी गई है।

आयशा, जाबू और आंद्रेई

बगदाद के छोर पर कायम एक स्कूल में पढ़ रही आयशा अपनी पढ़ाई-लिखाई में अव्वल थी। उसने सोचा था कि आगे किसी विश्वविद्यालय में डॉक्टरी की पढ़ाई करूँगी। सन् 2003 में उसकी एक टाँग जाती रही। वह एक ठिकाने में अपने दोस्तों के साथ छुपी हुई थी और तभी हवाई हमले में दागी हुई एक मिसाइल उसके ठिकाने पर आ गिरी। आयशा अब फिर से चलना-फिरना सीख रही है। अब भी उसकी योजना डॉक्टर बनने की ही है, लेकिन तब ही जब विदेशी सेना उसके देश को छोड़कर चली जाए।

डरबन (दक्षिण अफ्रीका) का रहने वाला जाबू एक प्रतिभाशाली कलाकार है। उसकी चित्रकारी पर पारंपरिक जनजातीय कला का गहरा असर है। उसकी योजना आर्ट स्कूल में पढ़ने और इसके बाद अपना स्टूडियो खोलने की है। लेकिन उसके पिता चाहते हैं कि जाबू एमबीए की पढ़ाई करे और परिवार का व्यवसाय संभाले। व्यवसाय फिलहाल मंदा चल रहा है और जाबू के पिता सोचते हैं कि वह परिवार के व्यवसाय को फायदेमंद बनाएगा।

युवा आंद्रेई पर्थ (आस्ट्रेलिया) में रहता है। उसके माँ-बाप बतौर आप्रवासी रूस से आये थे। चर्च जाते वक्त जब वह नीली जीन्स पहन लेता है तो उसकी माँ आपे से बाहर हो जाती हैं। वह चाहती हैं कि आंद्रेई चर्च में सभ्य-शालीन दिखाई पड़े। आंद्रेई अपनी माँ को बताता है कि जीन्स 'कूल' है और जीन्स पहनकर उसे आज़ादी का अहसास होता है। आंद्रेई के पिता उसकी माँ को याद दिलाते हैं कि हम लोग भी लेनिनग्राद में रहते हुए अपने जवानी के दिनों में जीन्स पहनते थे और उसी कारण से जिससे आज आंद्रेई पहनता है।

आंद्रेई की अपनी माँ से बहस हुई। हो सकता है जाबू को वह विषय पढ़ना पड़े जिसमें उसकी दिलचस्पी नहीं। इससे अलग, आयशा की एक टाँग जाती रही और उसका सौभाग्य है कि वह जीवित है। हम इन समस्याओं के बारे में एक साथ चर्चा कैसे कर सकते हैं? हम ऐसा कर सकते हैं और हमें ऐसा ज़रूर करना चाहिए। हम इस अध्याय में देखेंगे कि ये तीनों एक न एक तरीके से अमरीकी वर्चस्व का शिकार हैं। आयशा, जाबू और आन्द्रेई की चर्चा पर हम फिर लौटेंगे लेकिन पहले इस बात को समझें कि अमरीकी वर्चस्व की शुरुआत कैसे हुई और आज यह विश्व में कैसे असरमंद है।

हम अपनी चर्चा में 'संयुक्त राज्य अमरीका' की जगह ज्यादा लोकप्रिय शब्द 'अमरीका' का इस्तेमाल करेंगे। लेकिन यहाँ यह याद रखना उपयोगी होगा कि 'अमरीका' शब्द से उत्तरी अमरीका और दक्षिणी अमरीका नामक दो महाद्वीपों का अर्थ ध्वनित होता है और 'संयुक्त राज्य अमरीका' मात्र के लिए 'अमरीका' शब्द का प्रयोग खुद में उस वर्चस्व का प्रतीक है जिसे हम इस अध्याय में समझने की कोशिश करेंगे।

नयी विश्व-व्यवस्था की शुरुआत

सोवियत संघ के अचानक विघटन से हर कोई आश्चर्यचकित रह गया। दो महाशक्तियों में अब एक का वजूद तक न था जबकि दूसरा अपनी पूरी ताकत या कहें कि बढ़ी हुई ताकत के साथ कायम था। इस तरह, जान पड़ता है कि अमरीका के वर्चस्व की शुरुआत 1991 में हुई जब एक ताकत के रूप में सोवियत संघ अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य से

मैं खुश हूँ कि मैंने विज्ञान के विषय नहीं लिए वर्ना मैं भी अमरीकी वर्चस्व का शिकार हो जाता। क्या आप बता सकते हैं क्यों?

जले और टूटे हुए वाहनों की यह तस्वीर 'हाईवे ऑव डेथ' (मृत्यु का राजपथ) से ली गई है। कुवैत और बसरा के बीच की इस सड़क पर पीछे हटती इराकी सेना पर पहले खाड़ी युद्ध (फरवरी, 1991) के दौरान अमरीकी विमानों ने हमला किया था। कुछ विद्वानों का कहना है कि अमरीकी सेना ने जानबूझ कर सड़क के इस हिस्से पर हमला किया था। मैदान छोड़कर भागते हुए इराकी सैनिक सड़क के इस हिस्से पर अफरा-तफरी भरे ट्रैफिक-जाम में फँसे थे। अमरीकी विमानों के हमले में उनके साथ-साथ कुवैती बंदी और फिलिस्तीनी नागरिक शरणार्थी भी मारे गये। अनेक विद्वानों और पर्यवेक्षकों ने इसे 'युद्ध-अपराध' की संज्ञा दी और 'जेनेवा समझौते' का उल्लंघन माना।

गायब हो गया। एक हद तक यह बात सही है लेकिन हमें इसके साथ-साथ दो और बातों का ध्यान रखना होगा। पहली बात यह कि अमरीकी वर्चस्व के कुछ पहलुओं का इतिहास 1991 तक सीमित नहीं है बल्कि इससे कहीं पीछे दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय 1945 तक जाता है। इस पहलू के बारे में हम इसी अध्याय में पढ़ेंगे। दूसरी बात, अमरीका ने 1991 से ही वर्चस्वकारी ताकत की तरह बरताव करना नहीं शुरू किया। दरअसल यह बात ही बहुत बाद में जाकर साफ हुई कि दुनिया वर्चस्व के दौर में जी रही है। आइए, हम उस प्रक्रिया की चर्चा करें जिसने अमरीकी वर्चस्व की जड़ों को ज्यादा गहरे तक जमा दिया।

1990 के अगस्त में इराक ने कुवैत पर हमला किया और बड़ी तेजी से उस पर कब्ज़ा जमा लिया। इराक को समझाने-बुझाने की तमाम राजनयिक कोशिशें जब नाकाम रहीं तो संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कुवैत को मुक्त कराने के लिए बल-प्रयोग की अनुमति दे दी। शीतयुद्ध के दौरान ज्यादातर मामलों में चुप्पी साध लेने वाले संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिहाज से यह एक

क्या यह बात सही है कि अमरीका ने अपनी जमीन पर कभी कोई जंग नहीं लड़ी? कहीं इसी वज़ह से जंगी कारनामे करना अमरीका के लिए बायें हाथ का खेल तो नहीं?

नाटकीय फैसला था। अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने इसे 'नई विश्व व्यवस्था' की संज्ञा दी।

34 देशों की मिलीजुली और 660000 सैनिकों की भारी-भरकम फौज ने इराक के विरुद्ध मोर्चा खोला और उसे परास्त कर दिया। इसे प्रथम खाड़ी युद्ध कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इस सैन्य अभियान को 'ऑपरेशन डेजर्ट स्टार्म' कहा जाता है जो एक हद तक अमरीकी सैन्य अभियान ही था। एक अमरीकी जनरल नार्मन श्वार्जकॉव इस सैन्य-अभियान के प्रमुख थे और 34 देशों की इस मिली जुली सेना में 75 प्रतिशत सैनिक अमरीका के ही थे। हालाँकि इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन का ऐलान था कि यह 'सौ जंगों की एक जंग' साबित होगा लेकिन इराकी सेना जल्दी ही हार गई और उसे कुवैत से हटने पर मजबूर होना पड़ा।

प्रथम खाड़ी-युद्ध से यह बात ज़ाहिर हो गई कि बाकी देश सैन्य-क्षमता के मामले में अमरीका से बहुत पीछे हैं और इस मामले में प्रौद्योगिकी के धरातल पर अमरीका बहुत आगे निकल गया है। बड़े विज्ञापनी अंदाज में अमरीका ने इस युद्ध में तथाकथित 'स्मार्ट बमों' का प्रयोग किया। इसके चलते कुछ पर्यवेक्षकों ने इसे 'कंप्यूटर युद्ध' की संज्ञा दी। इस युद्ध की टेलीविजन पर व्यापक कवरेज हुई और यह एक 'वीडियो गेम वार' में तब्दील हो गया। दुनियाभर में अलग-अलग जगहों पर दर्शक अपनी बैठक में बड़े इत्मीनान से देख रहे थे कि इराकी सेना किस तरह धराशायी हो रही है।

यह बात अविश्वसनीय जान पड़ती है लेकिन अमरीका ने इस युद्ध में मुनाफा कमाया। कई रिपोर्टों में कहा गया कि अमरीका ने जितनी रकम इस जंग पर खर्च की उससे कहीं ज्यादा रकम उसे जर्मनी, जापान और सऊदी अरब जैसे देशों से मिली थी।

क्लिंटन का दौर

प्रथम खाड़ी युद्ध जीतने के बावजूद जार्ज बुश 1992 में डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार विलियम जेफर्सन (बिल) क्लिंटन से राष्ट्रपति-पद का चुनाव हार गए। क्लिंटन ने विदेश-नीति की जगह घरेलू नीति को अपने चुनाव-प्रचार का निशाना बनाया था। बिल क्लिंटन 1996 में दुबारा चुनाव जीते और इस तरह वे आठ सालों तक राष्ट्रपति-पद पर रहे। क्लिंटन के दौर में ऐसा जान पड़ता था कि अमरीका ने अपने को घरेलू मामलों तक सीमित कर लिया है और विश्व के मामलों में उसकी भरपूर संलग्नता नहीं रही। विदेश नीति के मामले में क्लिंटन सरकार ने सैन्य-शक्ति और सुरक्षा जैसी 'कठोर राजनीति' की जगह लोकतंत्र के बढ़ावे, जलवायु-परिवर्तन तथा विश्व व्यापार जैसे 'नरम मुद्दों' पर ध्यान केंद्रित किया।

बहरहाल, क्लिंटन के दौर में भी अमरीका जब-तब फौजी ताकत के इस्तेमाल के लिए तैयार दिखा। इस तरह की एक बड़ी घटना 1999 में हुई। अपने प्रांत कोसोवो में युगोस्लाविया ने अल्बानियाई लोगों के आंदोलन को कुचलने के लिए सैन्य कार्रवाई की। कोसोवो में अल्बानियाई लोगों की बहुलता है। इसके जवाब में अमरीकी नेतृत्व में नाटो के देशों ने युगोस्लावियाई क्षेत्रों पर दो महीने तक बमबारी की। स्लोबदान मिलोसेविच की सरकार गिर गयी और कोसोवो पर नाटो की सेना काबिज हो गई। क्लिंटन के दौर में दूसरी बड़ी सैन्य कार्रवाई नैरोबी (केन्या) और दारे-सलाम (तंजानिया) के अमरीकी दूतावासों पर बमबारी के ज़वाब में 1998 हुई। अतिवादी इस्लामी

यह तो बड़ी बेतुकी बात है! क्या इसका यह मतलब लगाया जाए कि लिट्टे आतंकवादियों के छुपे होने का शुबहा होने पर श्रीलंका पेरिस पर मिसाइल दाग सकता है?

विचारों से प्रभावित आतंकवादी संगठन 'अल-कायदा' को इस बमबारी का जिम्मेवार ठहराया गया। इस बमबारी के कुछ दिनों के अंदर राष्ट्रपति क्लिंटन ने 'ऑपरेशन इनफाइनाइट रीच' का आदेश दिया। इस अभियान के अंतर्गत अमरीका ने सूडान और अफ़गानिस्तान के अल-कायदा के ठिकानों पर कई बार क्रूज मिसाइल से हमले किए। अमरीका ने अपनी इस कार्रवाई के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनुमति लेने या इस सिलसिले में अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की परवाह नहीं की। अमरीका पर आरोप लगा कि उसने अपने इस अभियान में कुछ नागरिक ठिकानों पर भी निशाना साधा जबकि इनका आतंकवाद से कोई लेना-देना नहीं था। पीछे मुड़कर अब देखने पर लगता है कि यह तो एक शुरुआत भर थी।

The New York Times

U.S. ATTACKED

न्यूयार्क टाइम्स ने अगली सुबह 9/11 की रिपोर्टिंग इस तरह की थी।

9/11 और 'आतंकवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी युद्ध'

11 सितंबर 2001 के दिन विभिन्न अरब देशों के 19 अपहरणकर्त्ताओं ने उड़ान भरने के चंद मिनटों बाद चार अमरीकी व्यावसायिक विमानों पर कब्ज़ा कर लिया। अपहरणकर्त्ता इन विमानों को अमरीका की महत्त्वपूर्ण इमारतों की सीध में उड़ाकर ले गये। दो विमान न्यूयार्क स्थित वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के उत्तरी और दक्षिणी टावर से टकराए। तीसरा विमान वर्जिनिया के अर्लिंगटन स्थित 'पेंटागन' से टकराया। 'पेंटागन' में अमरीकी रक्षा-विभाग का मुख्यालय है। चौथे विमान को अमरीकी कांग्रेस की मुख्य इमारत से टकराना था लेकिन वह पेन्सिलवेनिया के एक खेत में गिर गया। इस हमले को 'नाइन एलेवन' कहा जाता है (अमरीका में महीने को तारीख से पहले लिखने का चलन है। इसी का संक्षिप्त रूप 9/11 है न कि 11/9 जैसा कि भारत में लिखा जाएगा)।

क्या अमरीका में भी राजनीतिक वंश-परंपरा चलती है या यह सिर्फ एक अपवाद है?

इस हमले में लगभग तीन हजार व्यक्ति मारे गये। अमरीकियों के लिए यह दिल दहला देने वाला अनुभव था। उन्होंने इस घटना की तुलना 1814 और 1941 की घटनाओं से की। 1814 में ब्रिटेन ने वाशिंग्टन डीसी में आगजनी की थी और 1941 में जापानियों ने पर्ल हार्बर पर हमला किया था। जहाँ तक जान-माल की हानि का सवाल है तो अमरीकी जमीन पर यह अब तक का सबसे गंभीर हमला था। अमरीका 1776 में एक देश बना और तब से उसने इतना बड़ा हमला नहीं झेला था।

9/11 के ज़वाब में अमरीका ने फौरी कदम उठाये और भयंकर कार्रवाई की। अब क्लिंटन की जगह रिपब्लिकन पार्टी के जार्ज डब्ल्यू. बुश राष्ट्रपति थे। ये पूर्ववर्ती राष्ट्रपति एच. डब्ल्यू. बुश के पुत्र हैं। क्लिंटन के विपरीत बुश ने अमरीकी हितों को लेकर कठोर रवैया अपनाया और इन हितों को बढ़ावा देने के लिए कड़े कदम उठाये। 'आतंकवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी युद्ध' के अंग के रूप में अमरीका ने 'ऑपरेशन एन्डयूरिंग फ्रीडम' चलाया। यह अभियान उन सभी के खिलाफ़ चला जिन पर 9/11 का शक था। इस अभियान में मुख्य निशाना अल-कायदा और अफगानिस्तान के तालिबान-शासन को बनाया गया। तालिबान के शासन के पाँव जल्दी ही उखड़ गए लेकिन तालिबान और अल-कायदा के अवशेष अब भी सक्रिय हैं। 9/11 की घटना के बाद से अब तक इनकी तरफ से पश्चिमी मुल्कों में कई जगहों पर हमले हुए हैं। इससे इनकी सक्रियता की बात स्पष्ट हो जाती है।

अमरीकी सेना ने पूरे विश्व में गिरफ्तारियाँ कीं। अक्सर गिरफ्तार लोगों के बारे में उनकी सरकार को जानकारी नहीं दी गई। गिरफ्तार

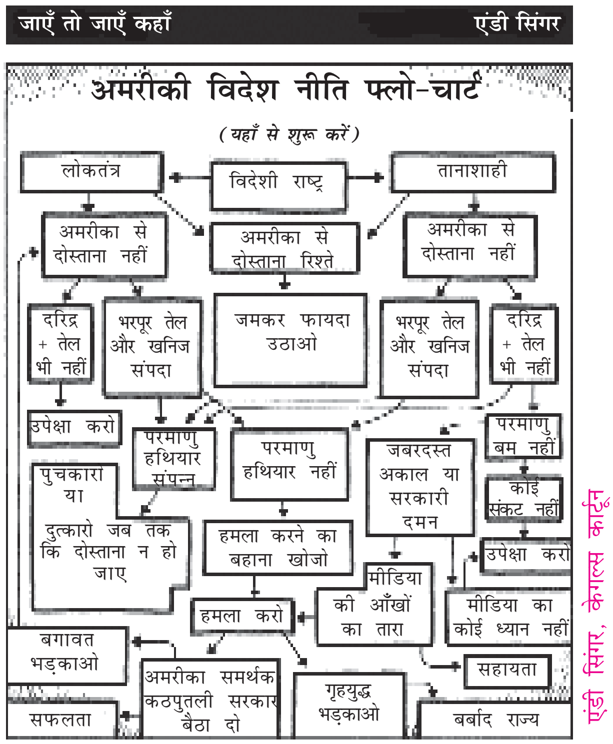

मान लें कि आप अमरीका के विदेश मंत्री हैं। आप प्रेस-सम्मेलन में इन कार्टूनों पर कैसी प्रतिक्रिया जताएंगे?

लोगों को अलग-अलग देशों में भेजा गया और उन्हें खुफिया जेलखानों में बंदी बनाकर रखा गया। क्यूबा के निकट अमरीकी नौसेना का एक ठिकाना ग्वांतानामो बे में है। कुछ बंदियों को वहाँ रखा गया। इस जगह रखे गए बंदियों को न तो अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की सुरक्षा प्राप्त है और न ही अपने देश या अमरीका के कानूनों की। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधियों तक को इन बंदियों से मिलने की अनुमति नहीं दी गई।

इराक पर आक्रमण

2003 के 19 मार्च को अमरीका ने 'ऑपरेशन इराकी फ्रीडम' के कूटनाम से इराक पर सैन्य-हमला किया। अमरीकी अगुआई वाले 'कॉअलिशन ऑव वीलिंग्स (आकांक्षियों के महाजोट)' में 40 से ज्यादा देश शामिल हुए। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इराक पर इस हमले की अनुमति नहीं दी थी। दिखावे के लिए कहा गया कि सामूहिक संहार के हथियार (वीपंस ऑव मास डेस्ट्रक्शन) बनाने से रोकने के लिए इराक पर हमला किया गया है। इराक में सामूहिक संहार के हथियारों की मौजूदगी के कोई प्रमाण नहीं मिले। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमले के मकसद कुछ और ही थे, जैसे इराक के तेल-भंडार पर नियंत्रण और इराक में अमरीका की मनपसंद सरकार कायम करना।

एरेस, केगल्स कार्टून

फ़ौजी की वर्दी और दुनिया का नक्शा !
यह कार्टून क्या बताता है?

खुद करें, खुद सीखें

शीतयुद्ध के बाद हुए उन संघर्षों/युद्धों की सूची बनाएं जिसमें अमरीका ने निर्णायक भूमिका निभाई।

सद्दाम हुसैन की सरकार तो चंद रोज़ में ही जाती रही, लेकिन इराक को 'शांत' कर पाने में अमरीका सफल नहीं हो सका है। इराक में अमरीका के खिलाफ एक पूर्णव्यापी विद्रोह भड़क उठा। अमरीका के 3000 सैनिक इस युद्ध में खेत रहे जबकि इराक के सैनिक कहीं ज्यादा बड़ी संख्या में मारे गये। एक अनुमान के अनुसार अमरीकी हमले के बाद से लगभग 50000 नागरिक मारे गये हैं। अब यह बात बड़े व्यापक रूप में मानी जा रही है कि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में इराक पर अमरीकी हमला सैन्य और राजनीतिक धरातल पर असफल सिद्ध हुआ है।

एंजेल बोलिगान, केगल्स कार्टून

'अमरीका के अंगूठे तले' शीर्षक का यह कार्टून वर्चस्व के आमफहम अर्थ को ध्वनित करता है। अमरीकी वर्चस्व की प्रकृति के बारे में यह कार्टून क्या कहता है? कार्टूनिस्ट विश्व के किस हिस्से के बारे में इशारा कर रहा है।

'वर्चस्व' जैसे भारी-भरकम शब्द का इस्तेमाल क्यों करें? हमारे शहर में इसके लिए 'दादागिरी' शब्द चलता है। क्या यह शब्द ज्यादा अच्छा नहीं रहेगा?

क्या होता है वर्चस्व का अर्थ?

राजनीति एक ऐसी कहानी है जो शक्ति के इर्द-गिर्द घूमती है। किसी भी आम आदमी की तरह हर समूह भी ताकत पाना और कायम रखना चाहता है। हम रोजाना बात करते हैं कि फलां आदमी ताकतवर होता जा रहा है या ताकतवर बनने पर तुला हुआ है। विश्व राजनीति में भी विभिन्न देश या देशों के समूह ताकत पाने और कायम रखने की लगातार कोशिश करते हैं। यह ताकत सैन्य प्रभुत्व, आर्थिक-शक्ति, राजनीतिक रुतबे और सांस्कृतिक बढ़त के रूप में होती है।

इसी कारण, अगर हम विश्व-राजनीति को समझना चाहें तो हमें विश्व के विभिन्न देशों के बीच शक्ति के बँटवारे को समझना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, शीतयुद्ध के समय (1945-1991) दो अलग-अलग गुटों में शामिल देशों के बीच ताकत का बँटवारा था। शीतयुद्ध के समय अमरीका और सोवियत संघ इन दो अलग-अलग शक्ति-केंद्रों के अगुआ थे। सोवियत संघ के पतन के बाद दुनिया में एकमात्र महाशक्ति अमरीका बचा। जब अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था किसी एक महाशक्ति या कहें कि उद्धत महाशक्ति के दबदबे में हो तो बहुधा इसे 'एकध्रुवीय' व्यवस्था भी कहा जाता है। भौतिकी के शब्द 'ध्रुव' का यह एक तरह से भ्रामक प्रयोग है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में ताकत का एक ही केंद्र हो तो इसे 'वर्चस्व' (Hegemony) शब्द के इस्तेमाल से वर्णित करना ज्यादा उचित होगा।

वर्चस्व – सैन्य शक्ति के अर्थ में

'हेगेमनी' शब्द की जड़ें प्राचीन यूनान में हैं। इस शब्द से किसी एक राज्य के नेतृत्व या प्रभुत्व का बोध होता है। मूलतः इस शब्द का प्रयोग प्राचीन यूनान के अन्य नगर-राज्यों की तुलना में एथेंस की प्रबलता को इंगित करने के लिए किया जाता था। इस प्रकार 'हेगेमनी' के पहले अर्थ का संबंध राज्यों के बीच सैन्य-क्षमता की बुनावट और तौल से है। 'हेगेमनी' से ध्वनित सैन्य-प्राबल्य का यही अर्थ आज विश्व-राजनीति में अमरीका की हैसियत को बताने में इस्तेमाल होता है। क्या आपको आयशा की याद है जिसकी एक टाँग अमरीकी हमले में जाती रही? यही है वह सैन्य वर्चस्व जिसने उसकी आत्मा को तो नहीं लेकिन उसके शरीर को ज़रूर पंगु बना दिया।

अमरीकी सशस्त्र सेना की कमान संरचना

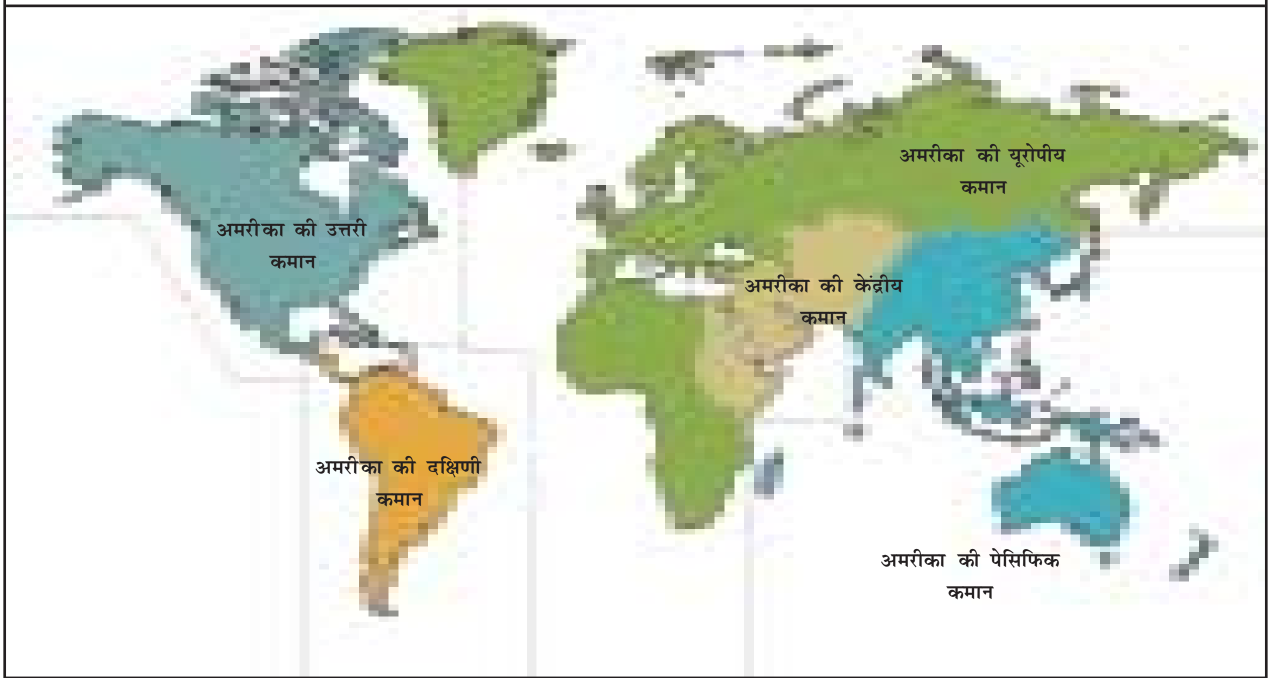

अमरीका की मौजूदा ताकत की रीढ़ उसकी बढ़ी-चढ़ी सैन्य शक्ति है। आज अमरीका की सैन्य शक्ति अपने आप में अनूठी है और बाकी देशों की तुलना में बेजोड़। अनूठी इस अर्थ में कि आज अमरीका अपनी सैन्य क्षमता के बूते पूरी दुनिया में कहीं भी निशाना साध सकता है। एकदम सही समय में अचूक और घातक वार करने की क्षमता है उसके पास। अपनी सेना को युद्धभूमि से अधिकतम दूरी पर सुरक्षित रखकर वह अपने दुश्मन को उसके घर में ही पंगु बना सकता है।

अमरीकी सैन्य शक्ति का यह अनूठापन अपनी जगह लेकिन इससे भी ज्यादा विस्मयकारी तथ्य यह है कि आज कोई भी देश अमरीकी सैन्य शक्ति की तुलना में उसके पासंग के बराबर भी नहीं है। अमरीका से नीचे के कुल 12 ताकतवर देश एक साथ मिलकर अपनी सैन्य क्षमता के लिए जितना खर्च करते हैं उससे कहीं ज्यादा अपनी सैन्य क्षमता के लिए अकेले अमरीका करता है। इसके अतिरिक्त, पेंटागन अपनी बजट का एक बड़ा हिस्सा रक्षा अनुसंधान और विकास के मद में अर्थात् प्रौद्योगिकी पर खर्च करता है। इस प्रकार अमरीका के सैन्य प्रभुत्व का आधार सिर्फ उच्च सैन्य व्यय नहीं बल्कि उसकी गुणात्मक बढ़त भी है। अमरीका आज सैन्य प्रौद्योगिकी के मामले में इतना आगे है कि किसी और देश के लिए इस मामले में उसकी बराबरी कर पाना संभव नहीं है।

इसमें कोई शक नहीं कि इराक पर अमरीकी हमले से अमरीका की कुछ कमजोरियाँ उजागर हुई हैं। अमरीका इराक की जनता को अपने नेतृत्व वाली गठबंधन सेना के आगे झुका पाने में सफल नहीं हुआ है। बहरहाल, अमरीका की कमजोरी को

विश्व की अधिकांश सशस्त्र सेनाएँ अपनी सैन्य-कार्रवाई के क्षेत्र को विभिन्न कमानों में बाँटती हैं। हर 'कमान' के लिए अलग-अलग कमांडर होते हैं। इस मानचित्र में अमरीकी सशस्त्र सेना के पाँच अलग-अलग कमानों के सैन्य कार्रवाई के क्षेत्र को दिखाया गया है। इससे पता चलता है कि अमरीकी सेना का कमान-क्षेत्र सिर्फ संयुक्त राज्य अमरीका तक सीमित नहीं बल्कि इसके विस्तार में समूचा विश्व शामिल है। अमरीका की सैन्य शक्ति के बारे में यह मानचित्र क्या बताता है?

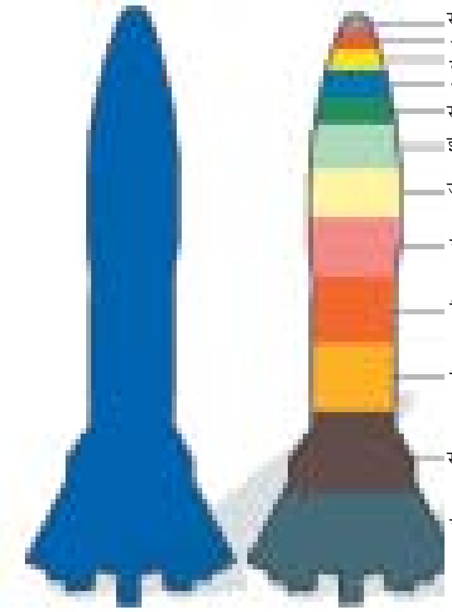

संयुक्त राज्य अमरीका का सैन्य व्यय **अमरीका से नीचे के 12 देशों का सैन्य व्यय**

अमरीका के नीचे के 12 ताकतवर देश एक साथ मिलकर जितना अपनी सैन्य सुरक्षा पर खर्च करते हैं उससे कहीं ज्यादा खर्च अकेले अमरीका करता है। यहाँ आप देख सकते हैं कि सैन्य मद में ज्यादा खर्च करने वाले अधिकांश देश अमरीका के मित्र और सहयोगी हैं। इस कारण, अमरीका की शक्ति से बराबरी कर पाने की रणनीति कारगर नहीं होगी।

स्रोत: *इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फॉर स्ट्रेटजिक स्टडीज, लंदन*

पूरी तरह से समझने के लिए हमें इसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इतिहास इस बात का गवाह है कि साम्राज्यवादी शक्तियों ने सैन्य बल का प्रयोग महज चार लक्ष्यों – जीतने, अपरोध करने, दंड देने और कानून व्यवस्था बहाल रखने के लिए किया है। इराक के उदाहरण से प्रकट है कि अमरीका की विजय-क्षमता विकट है। इसी तरह अपरुद्ध करने और दंड देने की भी उसकी क्षमता स्वत:सिद्ध है। अमरीकी सैन्य क्षमता की कमजोरी सिर्फ एक बात में जाहिर हुई है। वह अपने अधिकृत भू-भाग में कानून व्यवस्था नहीं बहाल कर पाया है।

वर्चस्व – ढाँचागत ताकत के अर्थ में

वर्चस्व का दूसरा अर्थ पहले अर्थ से बहुत अलग है। इसका रिश्ता वैश्विक अर्थव्यवस्था की एक खास समझ से है। इस समझ की बुनियादी धारणा है कि वैश्विक अर्थव्यवस्था में अपनी मर्जी चलाने वाला एक ऐसा देश ज़रूरी होता है जो अपने मतलब की चीजों को बनाए और बरकरार रखे। ऐसे देश के लिए ज़रूरी है कि उसके पास व्यवस्था कायम करने के लिए कायदों को लागू करने की क्षमता और इच्छा हो। साथ ही ज़रूरी है कि वह वैश्विक व्यवस्था को हर हालत में बनाए रखे। दबदबे वाला देश ऐसा अपने फायदे के लिए करता है लेकिन अक्सर इसमें उसे कुछ आपेक्षिक हानि उठानी पड़ती है। दूसरे प्रतियोगी देश वैश्विक अर्थव्यवस्था के खुलेपन का फायदा उठाते हैं जबकि इस खुलेपन को कायम रखने के लिए उन्हें कोई खर्च भी नहीं करना पड़ता।

वर्चस्व के इस दूसरे अर्थ को ग्रहण करें तो इसकी झलक हमें विश्वव्यापी 'सार्वजनिक वस्तुओं' को मुहैया कराने की अमरीकी भूमिका में मिलती है। 'सार्वजनिक वस्तुओं' से आशय

एरेस, केगल्स कार्टून

डॉलरमय दुनिया

ऐसी चीजों से है जिसका उपभोग कोई एक व्यक्ति करे तो दूसरे को उपलब्ध इसी वस्तु की मात्रा में कोई कमी नहीं आए। स्वच्छ वायु और सड़क सार्वजनिक वस्तु के उदाहरण हैं। वैश्विक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में सार्वजनिक वस्तु का सबसे बढ़िया उदाहरण समुद्री व्यापार-मार्ग (सी लेन ऑव कम्युनिकेशन्स -SLOCs) हैं जिनका इस्तेमाल व्यापारिक जहाज करते हैं। खुली वैश्विक अर्थव्यवस्था में मुक्त-व्यापार समुद्री व्यापार-मार्गों के खुलेपन के बिना संभव नहीं। दबदबे वाला देश अपनी नौसेना की ताकत से समुद्री व्यापार-मार्गों पर आवाजाही के नियम तय करता है और अंतर्राष्ट्रीय समुद्र में अबाध आवाजाही को सुनिश्चित करता है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश नौसेना का जोर घट गया। अब यह भूमिका अमरीकी नौसेना निभाती है जिसकी उपस्थिति दुनिया के लगभग सभी महासागरों में है।

वैश्विक सार्वजनिक वस्तु का एक और उदाहरण है - इंटरनेट। हालाँकि आज इंटरनेट के जरिए वर्ल्ड वाइड वेव (जगत-जोड़ता-जाल) का आभासी संसार साकार हो गया दीखता है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इंटरनेट अमरीकी सैन्य अनुसंधान परियोजना का परिणाम है। यह परियोजना 1950 में शुरू हुई थी। आज भी इंटरनेट उपग्रहों के एक वैश्विक तंत्र पर निर्भर है और इनमें से अधिकांश उपग्रह अमरीका के हैं।

हम जानते हैं कि अमरीका दुनिया के हर हिस्से, वैश्विक अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र तथा प्रौद्योगिकी के हर हलके में मौजूद है। विश्व की अर्थव्यवस्था में अमरीका की 28 प्रतिशत की हिस्सेदारी है। यदि विश्व के व्यापार में यूरोपीय संघ के अंदरूनी व्यापार को भी शामिल कर लें तो विश्व के कुल व्यापार में अमरीका की 15 प्रतिशत की हिस्सेदारी है। विश्व की अर्थव्यवस्था का

यह देश इतना धनी कैसे हो सकता है? मुझे तो यहाँ बहुत-से गरीब लोग दीख रहे हैं! इनमें अधिकांश अश्वेत हैं।

सकल घरेलू उत्पाद 2005

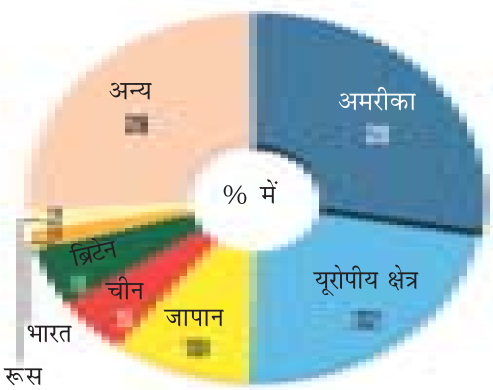

सकल घरेलू उत्पाद 2005
(तुलनात्मक क्रयशक्ति के आधार पर)

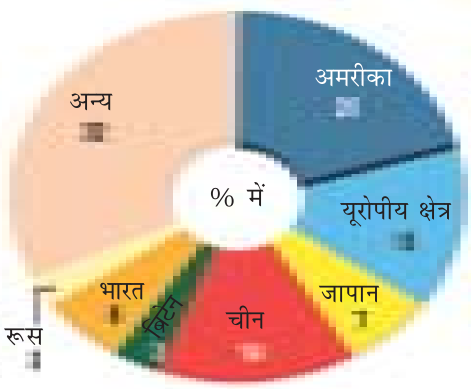

अमरीका की अर्थव्यवस्था विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। लेकिन सैन्य शक्ति के दायरे के उलट विश्व की अर्थव्यवस्था में अमरीका के कई तगड़े प्रतिद्वंद्वी हैं। यदि हम तुलनात्मक क्रयशक्ति के हिसाब से देखें तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है। दाएं आरेख से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकता है। तुलनात्मक क्रयशक्ति (PPP-पर्चेजिंग पावर पैरेटी) से आशय किसी राष्ट्र की मुद्रा में वस्तुओं और सेवाओं की वास्तविक खरीददारी से लिया गया है।

स्रोत: *http://sileresources.worldbank.org/DATASTATISTICS/Resources/GDP.pdf*

खुद करें, खुद सीखें

ब्रेटनवुड प्रणाली के अंतर्गत वैश्विक व्यापार के नियम तय किए गए थे। क्या ये नियम अमरीकी हितों के अनुकूल बनाए गए थे? ब्रेटनवुड प्रणाली के बारे में और जानकारी जुटायें।

यदि मैंने विज्ञान लिया होता तो मुझे मेडिकल या इंजीनियरिंग कॉलेज की प्रवेश-परीक्षा में बैठना पड़ता। इसका मतलब होता बहुत-से उन लोगों से मुकाबला करना जो डॉक्टर या इंजीनियर बन कर अमरीका जाना चाहते हैं।

एक भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें कोई अमरीकी कंपनी अग्रणी तीन कंपनियों में से एक नहीं हो।

ध्यान रहे कि अमरीका की आर्थिक प्रबलता उसकी ढाँचागत ताकत यानी वैश्विक अर्थव्यवस्था को एक खास शक्ल में ढालने की ताकत से जुड़ी हुई है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ब्रेटनवुड प्रणाली कायम हुई थी। अमरीका द्वारा कायम यह प्रणाली आज भी विश्व की अर्थव्यवस्था की बुनियादी संरचना का काम कर रही है। इस तरह हम विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन को अमरीकी वर्चस्व का परिणाम मान सकते हैं।

अमरीका की ढाँचागत ताकत का एक मानक उदाहरण एमबीए (मास्टर ऑव बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन) की अकादमिक डिग्री है। यह विशुद्ध रूप से अमरीकी धारणा है कि व्यवसाय अपने आप में एक पेशा है जो कौशल पर निर्भर करता है और इस कौशल को विश्वविद्यालय में अर्जित किया जा सकता है। यूनिवर्सिटी ऑव पेन्सिलवेनिया में वाह्र्टन स्कूल के नाम से विश्व का पहला 'बिजनेस स्कूल' खुला। इसकी स्थापना सन् 1881 में हुई। एमबीए के शुरूआती पाठ्यक्रम 1900 से आरंभ हुए। अमरीका से बाहर एमबीए के किसी पाठ्यक्रम की शुरुआत सन् 1950 में ही जाकर हो सकी। आज दुनिया में कोई देश ऐसा नहीं जिसमें एमबीए को एक प्रतिष्ठित अकादमिक डिग्री का दर्जा हासिल न हो। इस बात से हमें अपने दक्षिण अफ्रीकी दोस्त जाबू की याद आती है। ढाँचागत वर्चस्व को ध्यान में रखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जाबू के पिता क्यों जोर दे रहे थे कि वह पेंटिंग की पढ़ाई छोड़कर एमबीए की डिग्री ले।

वर्चस्व – सांस्कृतिक अर्थ में

अमरीकी वर्चस्व को शुद्ध रूप से सैन्य और आर्थिक संदर्भ में देखना भूल होगी। हमें अमरीकी वर्चस्व पर विचारधारा या संस्कृति के संदर्भ में भी विचार करना चाहिए। वर्चस्व के इस तीसरे अर्थ का रिश्ता 'सहमति गढ़ने' की ताकत से है। यहाँ वर्चस्व का आशय है सामाजिक, राजनीतिक और ख़ासकर विचारधारा के धरातल पर किसी वर्ग की बढ़त या दबदबा। कोई प्रभुत्वशाली वर्ग या देश अपने असर में रहने वालों को इस तरह सहमत कर सकता है कि वे भी दुनिया को उसी नज़रिए से देखने लगें जिसमें प्रभुत्वशाली वर्ग या देश देखता है। इससे प्रभुत्वशाली की बढ़त और वर्चस्व कायम होता है। विश्व राजनीति के दायरे में वर्चस्व के इस अर्थ को लागू करें तो स्पष्ट होगा कि प्रभुत्वशाली देश सिर्फ सैन्य शक्ति से काम नहीं लेता; वह अपने प्रतिद्वंद्वी और अपने से कमजोर देशों के व्यवहार-बरताव को अपने मनमाफिक बनाने के लिए विचारधारा से जुड़े साधनों का भी इस्तेमाल करता है। कमजोर देशों के व्यवहार-बरताव को इस तरह से प्रभावित किया जाता है कि उससे सबसे ताकतवर देश का हितसाधन हो; उसका प्राबल्य बना रहे। इस तरह, प्रभुत्वशाली देश ज़ोर-जबर्दस्ती और रजामंदी दोनों ही तरीकों से काम लेता है। अक्सर रजामंदी का तरीका ज़ोर-जबर्दस्ती से कहीं ज्यादा कारगर साबित होता है।

आज विश्व में अमरीका का दबदबा सिर्फ सैन्य शक्ति और आर्थिक बढ़त के बूते ही नहीं बल्कि अमरीका की सांस्कृतिक मौजूदगी भी इसका एक कारण है। चाहे हम इस बात को मानें या न मानें लेकिन यह सच है कि आज अच्छे जीवन

और व्यक्तिगत सफलता के बारे में जो धारणाएँ पूरे विश्व में प्रचलित हैं; दुनिया के अधिकांश लोगों और समाजों के जो सपने हैं- वे सब बीसवीं सदी के अमरीका में प्रचलित व्यवहार-बरताव के ही प्रतिबिंब हैं। अमरीकी संस्कृति बड़ी लुभावनी है और इसी कारण सबसे ज्यादा ताकतवर है। वर्चस्व का यह सांस्कृतिक पहलू है जहाँ ज़ोर-जबर्दस्ती से नहीं बल्कि रजामंदी से बात मनवायी जाती है। समय गुज़रने के साथ हम उसके इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि अब हम इसे इतना ही सहज मानते हैं जितना अपने आस-पास के पेड़-पक्षी या नदी को।

आपको आन्द्रेई और उसकी 'कूल' जीन्स की याद होगी। आन्द्रेई के माता-पिता जब सोवियत संघ में युवा थे तो उनकी पीढ़ी के लिए नीली जीन्स 'आजादी' का परम प्रतीक हुआ करती थी। युवक-युवती अक्सर अपनी साल-साल भर की तनख्वाह किसी 'चोरबाज़ार' में विदेशी पर्यटकों से नीली जीन्स खरीदने पर खर्च कर देते थे। ऐसा चाहे जैसे भी हुआ हो

बड़ी विचित्र बात है! अपने लिए जीन्स खरीदते समय तो मुझे अमरीका का ख्याल तक नहीं आता! फिर मैं अमरीकी वर्चस्व के चपेट में कैसे आ सकती हूँ?

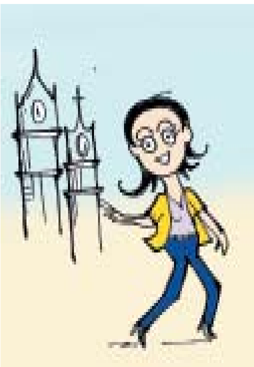

ये सारी तस्वीरें जकार्ता (इंडोनेशिया) की हैं। हर तस्वीर में अमरीकी वर्चस्व के तत्त्वों को ढूँढें। स्कूल से घर लौटते समय क्या आप रास्ते में ऐसी चीजों की पहचान कर सकते हैं?

लेकिन सोवियत संघ की एक पूरी पीढ़ी के लिए नीली जीन्स 'अच्छे जीवन' की आकांक्षाओं का प्रतीक बन गई थी – एक ऐसा 'अच्छा जीवन' जो सोवियत संघ में उपलब्ध नहीं था।

शीतयुद्ध के दौरान अमरीका को लगा कि सैन्य शक्ति के दायरे में सोवियत संघ को मात दे पाना मुश्किल है। अमरीका ने ढाँचागत ताकत और सांस्कृतिक प्रभुत्व के दायरे में सोवियत संघ से बाजी मारी। सोवियत संघ की केंद्रीकृत और नियोजित अर्थव्यवस्था उसके लिए अंदरूनी आर्थिक संगठन का एक वैकल्पिक मॉडल तो थी लेकिन पूरे शीतयुद्ध के दौरान विश्व की अर्थव्यवस्था पूँजीवादी तर्ज़ पर चली। अमरीका ने सबसे बड़ी जीत सांस्कृतिक प्रभुत्व के दायरे में हासिल की। सोवियत संघ में नीली जीन्स के लिए दीवानगी इस बात को साफ-साफ ज़ाहिर करती है कि अमरीका एक सांस्कृतिक उत्पाद के दम पर सोवियत संघ में दो पीढ़ियों के बीच दूरियाँ पैदा करने में कामयाब रहा।

अमरीकी शक्ति के रास्ते में अवरोध

इतिहास बताता है कि साम्राज्यों का पतन उनकी अंदरूनी कमजोरियों के कारण होता है। ठीक इसी तरह अमरीकी वर्चस्व की सबसे बड़ी बाधा खुद उसके वर्चस्व के भीतर मौजूद है। अमरीकी शक्ति की राह में तीन अवरोध हैं। 11 सितंबर 2001 की घटना के बाद के सालों में ये व्यवधान एक तरह से निष्क्रिय जान पड़ने लगे थे लेकिन धीरे-धीरे फिर प्रकट होने लगे हैं।

पहला व्यवधान स्वयं अमरीका की संस्थागत बुनावट है। यहाँ शासन के तीन अंगों के बीच शक्ति का बँटवारा है और यही बुनावट कार्यपालिका द्वारा सैन्य शक्ति के बेलगाम इस्तेमाल पर अंकुश लगाने का काम करती है।

अमरीका की ताकत के आड़े आने वाली दूसरी अड़चन भी अंदरूनी है। इस अड़चन के मूल में है अमरीकी समाज जो अपनी प्रकृति में उन्मुक्त है। अमरीका में जन-संचार के साधन समय-समय पर वहाँ के जनमत को एक खास दिशा में मोड़ने की भले कोशिश करें लेकिन अमरीकी राजनीतिक संस्कृति में शासन के उद्देश्य और तरीके को लेकर गहरे संदेह का भाव भरा है। अमरीका के विदेशी सैन्य-अभियानों पर अंकुश रखने में यह बात बड़ी कारगर भूमिका निभाती है।

बहरहाल, अमरीकी ताकत की राह में मौजूद तीसरा व्यवधान सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में आज सिर्फ एक संगठन है जो संभवतया अमरीकी ताकत पर लगाम कस सकता है और इस संगठन का नाम है 'नाटो' अर्थात् उत्तर अटलांटिक ट्रीटी आर्गनाइजेशन। स्पष्ट ही अमरीका का बहुत बड़ा हित लोकतांत्रिक देशों के इस संगठन को कायम रखने से जुड़ा है क्योंकि इन देशों में बाज़ारमूलक अर्थव्यवस्था चलती है। इसी कारण इस बात की संभावना बनती है कि 'नाटो' में शामिल अमरीका के साथी देश उसके वर्चस्व पर कुछ अंकुश लगा सकें।

अमरीका से भारत के संबंध

शीतयुद्ध के वर्षों में भारत अमरीकी गुट के विरुद्ध खड़ा था। इन सालों में भारत की करीबी दोस्ती सोवियत संघ से थी। सोवियत संघ के बिखरने के बाद भारत ने पाया कि लगातार कटुतापूर्ण होते अंतर्राष्ट्रीय माहौल में वह मित्रविहीन हो गया है। इसी अवधि में भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करने तथा उसे वैश्विक अर्थव्यवस्था से जोड़ने का भी फैसला किया। इस नीति और हाल के सालों में

'इराक युद्ध की इंसानी कीमत' शीर्षक प्रदर्शनी से ये दो फोटोग्राफ लिए गए हैं। इस प्रदर्शनी का आयोजन अमरीकन फ्रैंड्स सर्विस कमेटी ने सन् 2004 में डेमोक्रेटिक पार्टी की सालाना बैठक के अवसर पर किया था। इस तरह के विरोध अमरीकी सरकार पर किस सीमा तक अंकुश लगा पाते हैं?

प्रभावशाली आर्थिक वृद्धि-दर के कारण भारत अब अमरीका समेत कई देशों के लिए आकर्षक आर्थिक सहयोगी बन गया है।

हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि हाल के सालों में भारत-अमरीकी संबधों के बीच दो नई बातें उभरी हैं। इन बातों का संबंध प्रौद्योगिकी और अमरीका में बसे अनिवासी भारतीयों से है। दरअसल, ये दोनों बातें आपस में जुड़ी हुई हैं। निम्नलिखित तथ्यों पर विचार कीजिए –

- सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में भारत के कुल निर्यात का 65 प्रतिशत अमरीका को जाता है।
- बोईंग के 35 प्रतिशत तकनीकी कर्मचारी भारतीय मूल के हैं।
- 3 लाख भारतीय 'सिलिकन वैली' में काम करते हैं।
- उच्च प्रौद्योगिकी के क्षेत्र की 15 प्रतिशत कंपनियों की शुरुआत अमरीका में बसे भारतीयों ने की है।

यह अमरीका के विश्वव्यापी वर्चस्व का दौर है और बाकी देशों की तरह भारत को भी फैसला करना है कि अमरीका के साथ वह किस तरह के संबंध रखना चाहता है। यह तय कर पाना कोई आसान काम नहीं। भारत में तीन संभावित रणनीतियों पर बहस चल रही है –

- भारत के जो विद्वान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को सैन्य शक्ति के संदर्भ में देखते-समझते हैं, वे भारत और अमरीका की बढ़ती हुई नज़दीकी से भयभीत हैं। ऐसे विद्वान यही चाहेंगे कि भारत वाशिंगटन से अपना अलगाव बनाए रखे और अपना ध्यान अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने पर लगाये।
- कुछ विद्वान मानते हैं कि भारत और अमरीका के हितों में हेलमेल लगातार बढ़ रहा है और यह भारत के लिए ऐतिहासिक अवसर है। ये विद्वान एक ऐसी रणनीति अपनाने की तरफदारी करते हैं जिससे भारत अमरीकी वर्चस्व का फायदा उठाए। वे चाहते हैं कि दोनों

जैसे ही मैं कहता हूँ कि मैं भारत से आया हूँ, ये लोग मुझसे पूछते हैं कि 'क्या तुम कंप्यूटर इंजीनियर हो?' यह सुनकर अच्छा लगता है।

खुद करें, खुद सीखें

भारत और अमरीका के बीच हाल ही में नागरिक परमाणु समझौता हुआ है। इसके बारे में अख़बारों से रिपोर्ट और लेख जुटाएँ। इस समझौते के समर्थक और विरोधियों के तर्कों का सार-संक्षेप लिखें।

लोकसभा की बहस भारत-अमरीकी संबंध

भारत और अमरीका के बीच परमाणु ऊर्जा के मुद्दे पर समझौता हुआ। लोकसभा में इस मसले पर बहस हुई। नीचे प्रधानमंत्री और विपक्ष के दो नेताओं के भाषण के कुछ अंश दिए जा रहे हैं। ये तीन अलग-अलग वैचारिक स्थितियों की ओर संकेत करते हैं। क्या ये अध्याय में दी गई तीन रणनीतियों से जुड़े हैं?

डॉ. मनमोहन सिंह, कांग्रेस

"मान्यवर, मैं इस महनीय सदन से ससम्मान निवेदन करता हूँ कि वह भारत के ठ्रति विश्व की बदली हुई मनोदशा को पहचाने। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि ताकत की राजनीति अब बीते दिनों की बात हो गई है या अब कभी भी हमारी बाहें मरोड़ने की कोशिशें नहीं होंगी। हम सुनिश्चित करेंगे कि मौजूद खतरों से हमारी सुरक्षा पर आंच न आए। लेकिन, जो अवसर सामने आए हैं उनका लाभ न उठाना ग़लत होगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि सभी शक्तिशाली देशों से अच्छे संबंध रखना भारत के हित में है। मैं निस्संकोच कहता हूँ कि हम संयुक्त राज्य अमरीका से अच्छे संबंध बनाना चाहते हैं।"

Jh cklqnsc vkpk;Z] Hkkdik (ekDlZoknh)

¶vkt+knh osQ cknls ge viusjk'Vªh; fgrksa osQ dkj.k Lora=k fons'k uhfr ij vey djrs vk jgs gSaA geus bjkd vkSj bZjku osQ ekeys esa D;knsk[kk\ tgyk bZdk ysc;ku osQ cknvkSj varjkZ'Vªh; ijek.kq ÅtkZ ,tsalh esa emku osQ le; geus la;qDr jkT; vejhdk dk i{k fy;kA vejhdk vkSj ih&5 }kjk yk;s x, çLrko dk geus leFkZu fd;kA igys ,slh mEehn Hkh ugha dh tk ldrh FkhA ge ikfdLrku osQ jkLrs bZjku ls xSl ykuk pkg jgs Fks vkSj ftldh gesa t+:jr gSA fiQj Hkh geus bZjku osQ laca/esa vejhdh i{k dk lkFk fn;kA gens[krs gSa fd ,sls esa ge kjh Lora=k fons'k uhfr ij nq'çHkko iM+k gSA,

estj tsujy (lsokfuo`r) ch- lh- [kaMwjh] Hkktik

¶[pkgs gesa ilan gks ;k u gks] gesa bl rF; dk è;ku j[kuk gksxk fd vejhdk bl ,d/zqoh; fo'o esa ,dek=k egk'kfDr gSA ysfdu lkFk gh gesa ;g Hkh ;kn j[kuk pkfg, fd Hkkjr Hkh ,d fo'o&'kfDr vkSj egk'kfDr cus :i esa rsth ls mHkj jgk gSA blfy,] gekjk ekuuk gS fd varjkZ'Vªh; ifjn`'; esa la;qDr jkT; vejhdk osQ lkFk gekjs laca/ vPNs gksus pkfg, ysfdu viuh lqj{kk dh dher ij ugha,

के आपसी हितों का मेल हो और भारत अपने लिए सबसे बढ़िया विकल्प ढूँढ़ सके। इन विद्वानों की राय है कि अमरीका के विरोध की रणनीति व्यर्थ साबित होगी और आगे चलकर इससे भारत को नुकसान होगा।

- कुछ विद्वानों की राय है कि भारत अपनी अगुआई में विकासशील देशों का गठबंधन बनाए। कुछ सालों में यह गठबंधन ज्यादा ताकतवर हो जाएगा और अमरीकी वर्चस्व के प्रतिकार में सक्षम हो जाएगा।

शायद भारत और अमरीका के बीच संबंध इतने जटिल हैं कि किसी एक रणनीति पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। अमरीका से निर्वाह करने के लिए भारत को विदेश नीति की कई रणनीतियों का एक समुचित मेल तैयार करना होगा।

वर्चस्व से कैसे निपटें?

कब तक चलेगा अमरीकी वर्चस्व? इस वर्चस्व से कैसे बचा जा सकता है? ज़ाहिरा तौर पर ये सवाल हमारे वक्त के सबसे झंझावाती सवाल हैं। इतिहास से हमें इन सवालों के जवाब के कुछ सुराग मिलते हैं। लेकिन बात यहाँ इतिहास की नहीं वर्तमान और भविष्य की हो रही है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी चीजें गिनी-चुनी ही हैं जो किसी देश की सैन्यशक्ति पर लगाम कस सकें। हर देश में सरकार होती है लेकिन विश्व-सरकार जैसी कोई चीज नहीं होती। अध्याय-6 में यह बात स्पष्ट होगी कि अंतर्राष्ट्रीय संगठन विश्व-सरकार नहीं हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति दरअसल 'सरकार विहीन राजनीति' है। कुछ कायदे-कानून ज़रूर हैं जो युद्ध पर कुछ अंकुश रखते हैं लेकिन ये कायदे-कानून युद्ध को रोक नहीं सकते। फिर, शायद ही कोई देश होगा

जो अपनी सुरक्षा को अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के हवाले कर दे। तो क्या इन बातों से यह समझा जाए कि न तो वर्चस्व से कोई छुटकारा है और न ही युद्ध से?

फिलहाल हमें यह बात मान लेनी चाहिए कि कोई भी देश अमरीकी सैन्यशक्ति के जोड़ का मौजूद नहीं है। भारत, चीन और रूस जैसे बड़े देशों में अमरीकी वर्चस्व को चुनौती दे पाने की संभावना है लेकिन इन देशों के बीच आपसी विभेद हैं और इन विभेदों के रहते अमरीका के विरुद्ध इनका कोई गठबंधन नहीं हो सकता।

कुछ लोगों का तर्क है कि वर्चस्वजनित अवसरों के लाभ उठाने की रणनीति ज्यादा संगत है। उदाहरण के लिए, आर्थिक वृद्धि-दर को ऊँचा करने के लिए व्यापार को बढ़ावा, प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण और निवेश ज़रूरी है और अमरीका के साथ मिलकर काम करने से इसमें आसानी होगी न कि उसका विरोध करने से। ऐसे में सुझाव दिया जाता है कि सबसे ताकतवर देश के विरुद्ध जाने के बजाय उसके वर्चस्व-तंत्र में रहते हुए अवसरों का फायदा उठाना कहीं उचित रणनीति है। इसे 'बैंडवैगन' अथवा 'जैसी बहे बयार पीठ तैसी कीजै' की रणनीति कहते हैं।

देशों के सामने एक विकल्प यह है कि वे अपने को 'छुपा' लें। इसका अर्थ होता है दबदबे वाले देश से यथासंभव दूर-दूर रहना। इस व्यवहार के कई उदाहरण हैं। चीन, रूस और यूरोपीय संघ सभी एक न एक तरीके से अपने को अमरीकी निगाह में चढ़ने से बचा रहे हैं। इस तरह से अमरीका के किसी बेवजह या बेपनाह क्रोध की चपेट में आने से ये देश अपने को बचाते हैं। बहरहाल, बड़े या मँझले दर्जे के ताकतवर देशों के लिए यह रणनीति ज्यादा दिनों तक काम नहीं आने वाली।

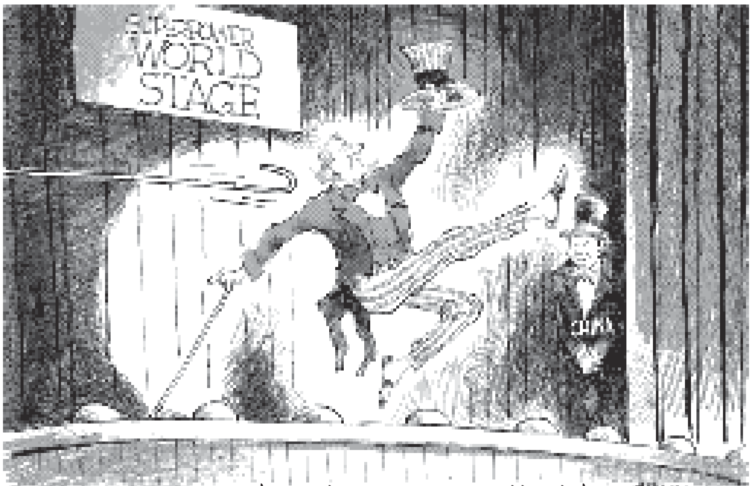

अंकल सैम! आपके 15 मिनट बस खत्म होने वाले हैं।

ओटावा सिटिजन, केगल्स कार्टून

अमरीका इकलौती महाशक्ति के रूप में कब तक कायम रहेगा? इसके बारे में आप क्या सोचते हैं? अगर यह चित्र आप बनाते तो अगली महाशक्ति के रूप में किस देश को दिखाते?

छोटे देशों के लिए यह संगत और आकर्षक रणनीति हो सकती है, लेकिन यह कल्पना से परे है कि चीन, भारत और रूस जैसे बड़े देश अथवा यूरोपीय संघ जैसा विशाल जमावड़ा अपने को बहुत दिनों तक अमरीकी निगाह में चढ़ने से बचाकर रख सके।

कुछ लोग मानते हैं कि अमरीकी वर्चस्व का प्रतिकार कोई देश अथवा देशों का समूह नहीं कर पाएगा क्योंकि आज सभी देश अमरीकी ताकत के आगे बेबस हैं। ये लोग मानते हैं कि राज्येतर संस्थाएँ अमरीकी वर्चस्व के प्रतिकार के लिए आगे आएंगी। अमरीकी वर्चस्व को आर्थिक और सांस्कृतिक धरातल पर चुनौती मिलेगी। यह चुनौती स्वयंसेवी संगठन, सामाजिक आंदोलन और जनमत के आपसी मेल से प्रस्तुत होगी; मीडिया का एक तबका, बुद्धिजीवी, कलाकार और लेखक आदि अमरीकी वर्चस्व के प्रतिरोध के लिए आगे आएंगे। ये राज्येतर संस्थाएँ विश्वव्यापी नेटवर्क बना सकती हैं जिसमें अमरीकी नागरिक भी शामिल होंगे और

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- अमरीका को प्रमाण मानकर विश्व के बड़े भू-राजनीतिक क्षेत्र (मध्य अमरीका, दक्षिण अमरीका, अफ्रीका, यूरोप, भूतपूर्व सोवियत संघ, दक्षिण एशिया, पूर्वी एशिया और आस्ट्रेलिया) छात्रों को सौंपे। आप छात्रों को ऐसे क्षेत्र भी सौंप सकते हैं जो शीतयुद्ध के बाद के सालों में युद्ध के क्षेत्र रहे और जहाँ अमरीका शामिल रहा (जैसे - अफगानिस्तान, इराक, इज़रायल-फिलीस्तीन या कोसोवो अथवा इस पाठ को पढ़ाते समय जिस क्षेत्र में संघर्ष चल रहा है।)
- हर क्षेत्र के लिए छात्रों का समूह बनाएँ। प्रत्येक समूह में छात्रों की समान संख्या हो। प्रत्येक समूह अपने हिस्से के युद्धक्षेत्र में अमरीका द्वारा निभाई गई भूमिका से जुड़े तथ्यों को संकलित करें। संकलन में जोर इस बात पर रहे कि इस क्षेत्र में अमरीका के हित क्या थे, उसने क्या कदम उठाए और क्षेत्र में अमरीका को लेकर कैसा जनमत बना। छात्र उपलब्ध स्रोतों से चित्र/कार्टून भी जुटाकर प्रस्तुत कर सकते हैं।
- प्रत्येक समूह अपना संकलन कक्षा के सामने प्रस्तुत करे।

अध्यापकों के लिए

- तथ्यों के संकलन का इस्तेमाल बुनियादी जानकारी के रूप में करते हुए अध्यापक छात्रों का ध्यान अमरीका द्वारा किए गए हस्तक्षेप पर केंद्रित करें और बताएँ कि अमरीका जिन सिद्धांतों की पैरोकारी करता है उनसे ये हस्तक्षेप मेल खाते हैं या नहीं।
- किसी युद्धक्षेत्र या इलाके का भविष्य अब से 20 साल बाद कैसा होगा? अमरीकी वर्चस्व कितने दिनों तक कायम रहेगा? उस क्षेत्र में अमरीकी वर्चस्व को कौन-से देश चुनौती दे सकते हैं? इन सवालों पर छात्रों को सोचने के लिए उत्साहित करें।

साथ मिलकर अमरीकी नीतियों की आलोचना तथा प्रतिरोध किया जा सकेगा।

आपने यह जुमला सुना होगा कि अब हम 'विश्वग्राम' में रहते हैं। इस विश्वग्राम में एक चौधरी है और हम सभी उसके पड़ोसी। यदि चौधरी का बरताव असहनीय हो जाय तो भी विश्वग्राम से चले जाने का विकल्प हमारे पास मौजूद नहीं क्योंकि यही एकमात्र गाँव है जिसे हम जानते हैं और रहने के लिए हमारे पास यही एक गाँव है। ऐसे में प्रतिरोध ही एकमात्र विकल्प बचता है।

ये सारी बातें ईर्ष्या से भरी हुई हैं। अमरीकी वर्चस्व से हमें परेशानी क्या है? क्या यही कि हम अमरीका में नहीं जन्मे? या कोई और बात है?

इतिहास हमें वर्चस्व के बारे में क्या सिखाता है?

शक्ति-संतुलन के तर्क को देखते हुए वर्चस्व की स्थिति अंतर्राष्ट्रीय मामलों में एक असामान्य परिघटना है। इसका कारण बड़ा सीधा-सादा है। विश्व-सरकार जैसी कोई चीज नहीं होती और ऐसे में हर देश को अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करनी होती है। कभी-कभी अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में उसे यह भी सुनिश्चित करना होता है कि कम से कम उसका वजूद बचा रहे। इस कारण, अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न देश शक्ति-संतुलन को लेकर बड़े सतर्क होते हैं और आम तौर पर वे किसी एक देश को इतना ताकतवर नहीं बनने देते कि वह बाकी देशों के लिए भयंकर खतरा बन जाय।

ऊपर जिस शक्ति-संतुलन की बात कही गई है उसे इतिहास से भी पुष्ट किया जा सकता है। चलन के मुताबिक हम 1648 को वह साल स्वीकार करते हैं जब संप्रभु राज्य विश्व-राजनीति के प्रमुख किरदार बने। इसके बाद से साढ़े तीन सौ साल गुजर चुके हैं। इस दौरान सिर्फ दो अवसर आए जब किसी एक देश ने अंतर्राष्ट्रीय फलक पर वही प्रबलता प्राप्त की जो आज अमरीका को हासिल है। यूरोप की राजनीति के संदर्भ में 1660 से 1713 तक फ्रांस का दबदबा था और यह वर्चस्व का पहला उदाहरण है। ब्रिटेन का वर्चस्व और समुद्री व्यापार के बूते कायम हुआ उसका साम्राज्य 1860 से 1910 तक बना रहा। यह वर्चस्व का दूसरा उदाहरण है।

इतिहास यह भी बताता है कि वर्चस्व अपने चरमोत्कर्ष के समय अजेय जान पड़ता है लेकिन यह हमेशा के लिए कायम नहीं रहता। इसके ठीक विपरीत शक्ति-संतुलन की राजनीति वर्चस्वशील देश की ताकत को आने वाले समय में कम कर देती है। 1660 में लुई 14वें के शासनकाल में फ्रांस अपराजेय था लेकिन 1713 तक इंग्लैंड, हैबस्बर्ग, आस्ट्रिया और रूस फ्रांस की ताकत को चुनौती देने लगे। 1860 में विक्टोरियाई शासन का सूर्य अपने पूरे उत्कर्ष पर था और ब्रिटिश साम्राज्य हमेशा के लिए सुरक्षित लगता था। 1910 तक यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी, जापान और अमरीका ब्रिटेन की ताकत को ललकारने के लिए उठ खड़े हुए हैं। इसी तरह, अब से 20 साल बाद एक और महाशक्ति या कहें कि शक्तिशाली देशों का गठबंधन उठ खड़ा हो सकता है क्योंकि तुलनात्मक रूप से देखें तो अमरीका की ताकत कमजोर पड़ रही है।

क्रिस्टोफर लेयने के लेख 'द यूनिपोलर इल्लुजन : व्हाई न्यू ग्रेट पावर्स विल राइज' पर आधारित

प्रश्नावली

1. वर्चस्व के बारे में निम्नलिखित में से कौन-सा कथन ग़लत है?
   (क) इसका अर्थ किसी एक देश की अगुआई या प्राबल्य है।
   (ख) इस शब्द का इस्तेमाल प्राचीन यूनान में एथेंस की प्रधानता को चिह्नित करने के लिए किया जाता था।
   (ग) वर्चस्वशील देश की सैन्यशक्ति अजेय होती है।
   (घ) वर्चस्व की स्थिति नियत होती है। जिसने एक बार वर्चस्व कायम कर लिया उसने हमेशा के लिए वर्चस्व कायम कर लिया।

2. समकालीन विश्व-व्यवस्था के बारे में निम्नलिखित में से कौन-सा कथन ग़लत है?
   (क) ऐसी कोई विश्व-सरकार मौजूद नहीं जो देशों के व्यवहार पर अंकुश रख सके।
   (ख) अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अमरीका की चलती है।
   (ग) विभिन्न देश एक-दूसरे पर बल-प्रयोग कर रहे हैं।
   (घ) जो देश अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन करते हैं उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ कठोर दंड देता है।

प्रश्नावली

3. 'ऑपरेशन इराकी फ्रीडम' (इराकी मुक्ति अभियान) के बारे में निम्नलिखित में से कौन-सा कथन ग़लत है?
   (क) इराक पर हमला करने के इच्छुक अमरीकी अगुआई वाले गठबंधन में 40 से ज्यादा देश शामिल हुए।
   (ख) इराक पर हमले का कारण बताते हुए कहा गया कि यह हमला इराक को सामूहिक संहार के हथियार बनाने से रोकने के लिए किया जा रहा है।
   (ग) इस कार्रवाई से पहले संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनुमति ले ली गई थी।
   (घ) अमरीकी नेतृत्व वाले गठबंधन को इराकी सेना से तगड़ी चुनौती नहीं मिली।

4. इस अध्याय में वर्चस्व के तीन अर्थ बताए गए हैं। प्रत्येक का एक-एक उदाहरण बतायें। ये उदाहरण इस अध्याय में बताए गए उदाहरणों से अलग होने चाहिए।

5. उन तीन बातों का जिक्र करें जिनसे साबित होता है कि शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद अमरीकी प्रभुत्व का स्वभाव बदला है और शीतयुद्ध के वर्षों के अमरीकी प्रभुत्व की तुलना में यह अलग है।

6. निम्नलिखित में मेल बैठायें –
   (1) ऑपरेशन इनफाइनाइट रीच
   (2) ऑपरेशन इंड्यूरिंग फ्रीडम
   (3) ऑपरेशन डेजर्ट स्टार्म
   (4) ऑपरेशन इराकी फ्रीडम
      (क) तालिबान और अल-कायदा के खिलाफ जंग
      (ख) इराक पर हमले के इच्छुक देशों का गठबंधन
      (ग) सूडान पर मिसाइल से हमला
      (घ) प्रथम खाड़ी युद्ध।

7. अमरीकी वर्चस्व की राह में कौन-से व्यवधान हैं। आपके जानते इनमें से कौन-सा व्यवधान आगामी दिनों में सबसे महत्त्वपूर्ण साबित होगा?

8. भारत-अमरीका समझौते से संबंधित बहस के तीन अंश इस अध्याय में दिए गए हैं। इन्हें पढ़ें और किसी एक अंश को आधार मानकर पूरा भाषण तैयार करें जिसमें भारत-अमरीकी संबंध के बारे में किसी एक रुख का समर्थन किया गया हो।

9. "यदि बड़े और संसाधन संपन्न देश अमरीकी वर्चस्व का प्रतिकार नहीं कर सकते तो यह मानना अव्यावहारिक है कि अपेक्षाकृत छोटी और कमजोर राज्येतर संस्थाएँ अमरीकी वर्चस्व का कोई प्रतिरोध कर पाएंगी।" इस कथन की जाँच करें और अपनी राय बताएँ।

अध्याय 4

सत्ता के वैकल्पिक केन्द्र

1978 के दिसंबर में देंग श्याओपेंग ने 'ओपेन डोर' (मुक्त द्वार) की नीति चलायी। इसके बाद से चीन ने अद्भुत प्रगति की और अगले सालों में एक बड़ी आर्थिक ताकत के रूप में उभरा। ये तस्वीरें चीन में विकास की तेजी से बदलती प्रवृत्तियों का पता देती हैं। पहली तस्वीर क्रांति के तत्काल बाद के चीन की है। इसमें कहा गया है कि 'समाजवादी रास्ता ही सबसे व्यापक रास्ता है'। दूसरी तस्वीर शंघाई की है जो चीन की नई आर्थिक शक्ति का प्रतीक है।

परिचय

1990 के दशक के शुरू में विश्व राजनीति में दो-ध्रुवीय व्यवस्था के टूटने के बाद यह स्पष्ट हो गया कि राजनैतिक और आर्थिक सत्ता के वैकल्पिक केंद्र कुछ हद तक अमरीका के प्रभुत्व को सीमित करेंगे। यूरोप में यूरोपीय संघ और एशिया में दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों के संगठन (आसियान) का उदय दमदार शक्ति के रूप में हुआ। यूरोपीय संघ और आसियान, दोनों ने ही अपने-अपने इलाके में चलने वाली ऐतिहासिक दुश्मनियों और कमजोरियों का क्षेत्रीय स्तर पर समाधान ढूंढ़ा। साथ ही इन्होंने अपने-अपने इलाकों में अधिक शांतिपूर्ण और सहकारी क्षेत्रीय व्यवस्था विकसित करने तथा इस क्षेत्र के देशों की अर्थव्यवस्थाओं का समूह बनाने की दिशा में भी काम किया। चीन के आर्थिक उभार ने विश्व राजनीति पर काफी नाटकीय प्रभाव डाला। इस अध्याय में हम सत्ता के उभरते हुए कुछ वैकल्पिक केन्द्रों पर एक नज़र डालेंगे और यह जाँचने की कोशिश करेंगे कि भविष्य में उनकी क्या भूमिका हो सकती है।

यूरोपीय संघ

जब दूसरा विश्व युद्ध समाप्त हुआ तब यूरोप के अनेक नेता 'यूरोप के सवालों' को लेकर परेशान रहे। क्या यूरोप को अपनी पुरानी दुश्मनियों को फिर से शुरू करना चाहिए या अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सकारात्मक योगदान करने वाले सिद्धांतों और संस्थाओं के आधार पर उसे अपने संबंधों को नए सिरे से बनाना चाहिए? दूसरे विश्वयुद्ध ने उन अनेक मान्यताओं और व्यवस्थाओं को ध्वस्त कर दिया जिसके आधार पर यूरोपीय देशों के आपसी संबंध बने थे। 1945 तक यूरोपीय देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं की बर्बादी तो झेली ही, उन मान्यताओं और व्यवस्थाओं को ध्वस्त होते भी देख लिया जिन पर यूरोप खड़ा हुआ था।

1945 के बाद यूरोप के देशों में मेल-मिलाप को शीतयुद्ध से भी मदद मिली। अमरीका ने यूरोप की अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन के लिए जबरदस्त मदद की। इसे मार्शल योजना के नाम से जाना जाता है। अमेरिका ने 'नाटो' के तहत एक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को जन्म दिया। मार्शल योजना के तहत ही 1948 में यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन की स्थापना की गई जिसके माध्यम से पश्चिमी यूरोप के देशों को आर्थिक मदद दी गई। यह एक ऐसा मंच बन गया जिसके माध्यम से पश्चिमी यूरोप के देशों ने व्यापार और आर्थिक मामलों में एक-दूसरे की मदद शुरू की। 1949 में गठित यूरोपीय परिषद् राजनैतिक सहयोग के मामले में एक अगला कदम साबित हुई। यूरोप के पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था के आपसी एकीकरण की प्रक्रिया चरणबद्ध ढंग से आगे बढ़ी (इस एकीकरण का कालक्रम देखें) और इसके परिणामस्वरूप 1957 में यूरोपीयन इकॉनामिक कम्युनिटी का गठन हुआ। यूरोपीयन पार्लियामेंट के गठन के बाद इस प्रक्रिया ने राजनीतिक स्वरूप प्राप्त कर लिया। सोवियत गुट के पतन के बाद इस प्रक्रिया में तेजी आयी और 1992 में इस प्रक्रिया की परिणति यूरोपीय संघ की स्थापना के रूप में हुई। यूरोपीय संघ के रूप में समान विदेश और सुरक्षा नीति, आंतरिक मामलों तथा न्याय से जुड़े मुद्दों पर सहयोग और एकसमान मुद्रा के चलन के लिए रास्ता तैयार हो गया।

एक लम्बे समय में बना यूरोपीय संघ आर्थिक सहयोग वाली व्यवस्था से बदलकर ज़्यादा से ज़्यादा राजनैतिक रूप लेता गया है। अब यूरोपीय संघ स्वयं काफी हद तक एक विशाल राष्ट्र-राज्य की तरह ही काम करने लगा है। हाँलाकि यूरोपीय संघ का एक संविधान बनाने की कोशिश तो असफल हो गई लेकिन इसका अपना झंडा, गान, स्थापना-दिवस और अपनी मुद्रा है। अन्य देशों से संबंधों के मामले में इसने काफी हद तक साझी विदेश और सुरक्षा नीति भी बना ली है। नये सदस्यों को शामिल करते हुए यूरोपीय संघ ने सहयोग के दायरे में विस्तार की कोशिश की। नये सदस्य मुख्यत: भूतपूर्व सोवियत खेमे के थे। यह प्रक्रिया आसान नहीं रही। अनेक देशों के लोग इस बात को लेकर कुछ ख़ास उत्साहित नहीं थे कि जो

यूरोपीय संघ का झंडा

सोने के रंग के सितारों का घेरा यूरोप के लोगों की एकता और मेलमिलाप का प्रतीक है। इसमें 12 सितारें हैं क्योंकि बारह की संख्या को वहाँ पारंपरिक रूप से पूर्णता, समग्रता और एकता का प्रतीक माना जाता है।

स्रोत: *http:// europa.eu/abc/symbols/emblem/index_en.htm*

यूरोपीय संघ का मानचित्र

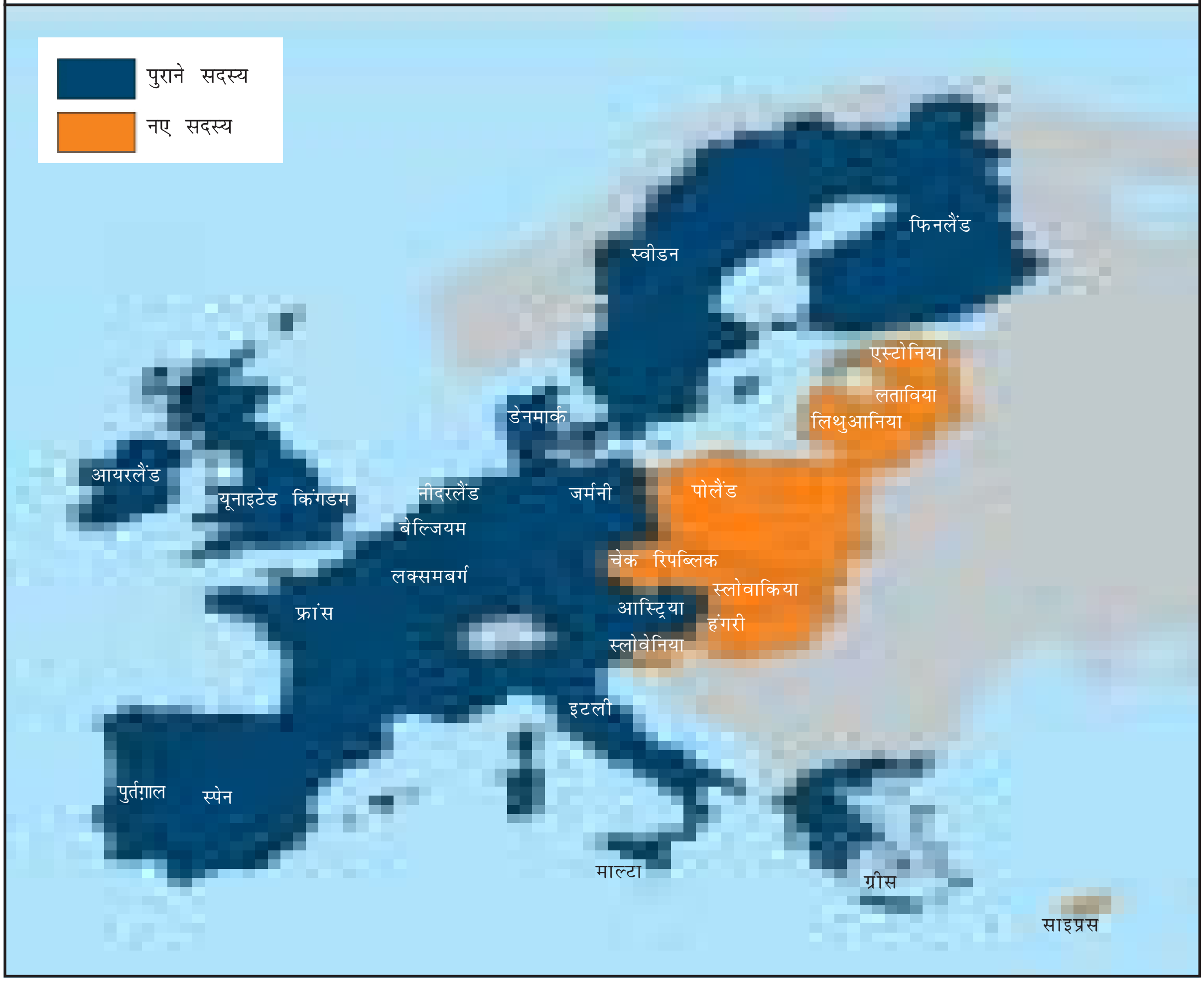

यूरोपीय संघ के सदस्यों को इस मानचित्र में दिखाया गया है।

ताकत उनके देश की सरकार को हासिल थी वह अब यूरोपीय संघ को दे दी जाए। यूरोपीय संघ में कुछ देशों को शामिल करने के सवाल पर भी असहमति है।

यूरोपीय संघ का आर्थिक, राजनैतिक, कूटनीतिक तथा सैनिक प्रभाव बहुत जबरदस्त है। 2005 में यह दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था थी और इसका सकल घरेलू उत्पादन 12000 अरब डालर से ज्यादा था जो अमरीका से भी थोड़ा ज्यादा ही था। इसकी मुद्रा यूरो अमरीकी डालर के प्रभुत्व के लिए खतरा बन सकती है। विश्व व्यापार में इसकी हिस्सेदारी अमरीका से तीन गुनी ज्यादा है और इसी के चलते यह अमरीका और चीन से व्यापारिक विवादों में पूरी धौंस के साथ बात करता है। इसकी आर्थिक शक्ति का प्रभाव इसके नजदीकी देशों पर ही नहीं, बल्कि एशिया और अफ्रीका के दूर-दराज के मुल्कों पर भी है। यह विश्व व्यापार संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठनों के अंदर एक महत्त्वपूर्ण समूह के रूप में काम करता है।

यूरोपीय संघ के दो सदस्य देश ब्रिटेन और फ्रांस सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य हैं। यूरोपीय संघ के कई और देश सुरक्षा परिषद्

ओ! अब समझ में आया शांगेन वीजा का मतलब। जिस समझौते पर शांगेन में दस्तख़त हुए उसके अनुसार आपको सिर्फ एक देश का वीजा लेना होगा और इस वीजा के बूते आप यूरोपीय संघ में शामिल अधिकांश देशों में जा सकेंगे।

यूरोपीय एकता के महत्त्वपूर्ण पड़ाव

अप्रैल 1951	:	पश्चिमी यूरोप के छह देशों – फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैंड और लक्जमबर्ग ने पेरिस संधि पर दस्तखत करके यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय का गठन किया।
मार्च 1957	:	इन्हीं छह देशों ने रोम की संधि के माध्यम से यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) और यूरोपीय एटमी ऊर्जा समुदाय (Euratom) का गठन किया।
जनवरी 1973	:	डेनमार्क, आयरलैंड और ब्रिटेन ने भी यूरोपीय समुदाय की सदस्यता ली।
जून 1979	:	यूरोपीय संसद के लिए पहला प्रत्यक्ष चुनाव।
जनवरी 1981	:	यूनान (ग्रीस) ने यूरोपीय समुदाय की सदस्यता ली।
जून 1985	:	शांगेन संधि ने यूरोपीय समुदाय के देशों के बीच सीमा नियंत्रण समाप्त किया।
जनवरी 1986	:	स्पेन और पुर्तगाल भी यूरोपीय समुदाय में शामिल हुए।
अक्टूबर 1990	:	जर्मनी का एकीकरण।
फरवरी 1992	:	यूरोपीय संघ के गठन के लिए मास्ट्रिस्ट संधि पर दस्तखत।
जनवरी 1993	:	एकीकृत बाजार का गठन।
जनवरी 2002	:	नई मुद्रा यूरो को 12 सदस्य देशों ने अपनाया।
मई 2004	:	साइप्रस, चेक गणराज्य, एस्टोनिया, हंगरी, लताविया, लिथुआनिया, माल्टा, पोलैंड, स्लोवाकिया और स्लोवेनिया भी यूरोपीय संघ में शामिल।
जनवरी 2007	:	बुल्गारिया और रोमानिया यूरोपीय संघ में शामिल। स्लोवेनिया ने यूरो को अपनाया।

के अस्थायी सदस्यों में शामिल हैं। इसके चलते यूरोपीय संघ अमरीका समेत सभी मुल्कों की नीतियों को प्रभावित करता है। ईरान के परमाणु कार्यक्रम से संबंधित अमरीकी नीतियों को हाल के दिनों में प्रभावित करना इसका एक उदाहरण है। चीन के साथ मानवाधिकारों के उल्लंघन और पर्यावरण विनाश के मामलों पर धमकी या सैनिक शक्ति का उपयोग करने की जगह कूटनीति, आर्थिक निवेश और बातचीत की इसकी नीति ज्यादा प्रभावी साबित हुई है।

सैनिक ताकत के हिसाब से यूरोपीय संघ के पास दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी सेना है। इसका कुल रक्षा बजट अमरीका के बाद सबसे अधिक है। यूरोपीय संघ के दो देशों – ब्रिटेन और फ्रांस के पास परमाणु हथियार हैं और अनुमान है कि इनके ज़खीरे में करीब 550 परमाणु हथियार हैं। अंतरिक्ष विज्ञान और संचार प्रौद्योगिकी के मामले में भी यूरोपीय संघ का दुनिया में दूसरा स्थान है।

अधिराष्ट्रीय संगठन के तौर पर यूरोपीय संघ आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक मामलों में दखल देने में सक्षम है। लेकिन अनेक मामलों में इसके सदस्य देशों की अपनी विदेश और रक्षा नीति है जो कई बार एक-दूसरे के खिलाफ भी होती है। यही कारण है कि इराक पर अमरीकी हमले में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर तो उसके साथ थे लेकिन जर्मनी और फ्रांस इस हमले के खिलाफ थे। यूरोपीय संघ के कई नए सदस्य देश भी अमरीकी गठबंधन में थे। यूरोप के कुछ हिस्सों में यूरो को लागू करने के कार्यक्रम को लेकर काफी नाराजगी है। यही कारण है कि ब्रिटेन की पूर्व प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर ने ब्रिटेन को यूरोपीय बाज़ार से अलग रखा। डेनमार्क और स्वीडन ने मास्ट्रिस्ट संधि और साझी यूरोपीय मुद्रा यूरो को मानने का प्रतिरोध किया। इससे विदेशी और रक्षा मामलों में काम करने की यूरोपीय संघ की क्षमता सीमित होती है।

एरेस, केगल्स कार्टून

2003 में यूरोपीय संघ ने एक साझा संविधान बनाने की कोशिश की थी। यह कोशिश नाकामयाब रही। इसी को लक्ष्य करके यह कार्टून बना है। कार्टूनिस्ट ने यूरोपीय संघ को टाइटैनिक ज़हाज के रूप में क्यों दिखाया है?

दक्षिण पूर्व एशियाई राष्ट्रों का संगठन (आसियान)

दुनिया के नक़्शे पर एक नज़र डालें। आपके ख़्याल से कौन-से देश एशिया के दक्षिणी क्षेत्र में आने चाहिए? दूसरे विश्व युद्ध से पहले और उसके दौरान, एशिया का यह हिस्सा बार-बार यूरोपीय और जापानी उपनिवेशवाद का शिकार हुआ तथा भारी राजनैतिक और आर्थिक कीमत चुकाई। युद्ध समाप्त होने पर इसे राष्ट्र-निर्माण, आर्थिक पिछड़ेपन और गरीबी जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा। इसे शीतयुद्ध के दौर में किसी एक महाशक्ति के साथ जाने के दबावों को भी झेलना पड़ा। टकरावों और भागमभाग की ऐसी स्थिति को दक्षिण-पूर्व एशिया संभालने की स्थिति में नहीं था। बांडुंग सम्मेलन और गुटनिरपेक्ष आंदोलन वगैरह के माध्यम से एशिया और तीसरी दुनिया के देशों में एकता कायम करने के प्रयास अनौपचारिक स्तर पर सहयोग और मेलजोल कराने के मामले में कारगर नहीं हो रहे थे। इसी के चलते दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों ने दक्षिण-पूर्व एशियाई संगठन (आसियान) बनाकर एक वैकल्पिक पहल की।

1967 में इस क्षेत्र के पाँच देशों ने बैंकॉक घोषणा पर हस्ताक्षर करके 'आसियान' की स्थापना की। ये देश थे इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलिपींस, सिंगापुर और थाईलैंड। 'आसियान' का उद्देश्य मुख्य रूप से आर्थिक विकास को तेज करना और उसके माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक विकास हासिल करना था। कानून के शासन और संयुक्त राष्ट्र के कायदों

कल्पना कीजिए, क्या होता अगर पूरे यूरोपीय संघ की एक फुटबाल टीम होती?

पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया का मानचित्र

चीन, जापान, कोरिया और आसियान के सदस्य देशों को इंगित करता मानचित्र।

स्रोत: *"यूनिवर्सिटी ऑफ टेकसास लाइब्रेरीज, आस्टिन से साभार"*

क्या भारत दक्षिण-पूर्व एशिया का हिस्सा नहीं है? भारत के पूर्वोत्तरी राज्य आसियान देशों के इतने निकट हैं।

पर आधारित क्षेत्रीय शांति और स्थायित्व को बढ़ावा देना भी इसका उद्देश्य था। बाद के वर्षों में ब्रुनेई दारुस्सलाम, वियतनाम, लाओस, म्यांमार और कंबोडिया भी आसियान में शामिल हो गए तथा इसकी सदस्य संख्या दस हो गई।

यूरोपीय संघ की तरह इसने खुद को अधिराष्ट्रीय संगठन बनाने या उसकी तरह अन्य व्यवस्थाओं को अपने हाथ में लेने का लक्ष्य नहीं रखा। अनौपचारिक, टकरावरहित और सहयोगात्मक मेल-मिलाप का नया उदाहरण पेश करके आसियान ने काफी यश कमाया है और इसको 'आसियान शैली' (ASEAN way) ही कहा जाने लगा है। आसियान के कामकाज में राष्ट्रीय सार्वभौमिकता का सम्मान करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है।

दुनिया में सबसे तेज रफ्तार से आर्थिक तरक्की करने वाले सदस्य देशों के समूह आसियान ने अब अपने उद्देश्यों को आर्थिक और सामाजिक दायरे से ज्यादा व्यापक बनाया है। 2003 में आसियान ने आसियान सुरक्षा समुदाय, आसियान आर्थिक समुदाय और आसियान सामाजिक-सांस्कृतिक समुदाय नामक तीन स्तम्भों के आधार पर आसियान समुदाय बनाने की दिशा में कदम उठाए जो कुछ हद तक यूरोपीय संघ से मिलता-जुलता है।

आसियान सुरक्षा समुदाय क्षेत्रीय विवादों को सैनिक टकराव तक न ले जाने की सहमति पर आधारित है। 2003 तक आसियान के सदस्य देशों ने कई समझौते किए जिनके द्वारा हर सदस्य देश ने शांति, निष्पक्षता, सहयोग, अहस्तक्षेप को बढ़ावा देने और राष्ट्रों के आपसी अंतर तथा संप्रभुता के अधिकारों का सम्मान करने पर अपनी वचनबद्धता जाहिर की। आसियान के देशों की सुरक्षा और विदेश नीतियों में तालमेल बनाने के लिए 1994 में आसियान क्षेत्रीय मंच की स्थापना की गई।

बुनियादी रूप से आसियान एक आर्थिक संगठन था और वह ऐसा ही बना रहा। आसियान क्षेत्र की कुल अर्थव्यवस्था अमरीका, यूरोपीय संघ और जापान की तुलना में काफी छोटी है पर इसका विकास इन सबसे अधिक तेजी से हो रहा है। इसके चलते इस क्षेत्र में और इससे बाहर इसके प्रभाव में तेजी से वृद्धि हो रही है। आसियान आर्थिक समुदाय का उद्देश्य आसियान देशों का साझा बाज़ार और उत्पादन आधार तैयार करना तथा इस इलाके के सामाजिक और आर्थिक विकास में मदद करना है। यह संगठन इस क्षेत्र के देशों के आर्थिक विवादों को निपटाने के लिए बनी मौजूदा व्यवस्था को भी सुधारना चाहेगा।

आसियान ने निवेश, श्रम और सेवाओं के मामले में मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने पर भी ध्यान दिया है। इस प्रस्ताव पर आसियान के साथ बातचीत करने की पहल अमरीका और चीन ने कर भी दी है।

आसियान तेजी से बढ़ता हुआ एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय संगठन है। इसके विजन दस्तावेज़ 2020 में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में आसियान की एक बहिर्मुखी भूमिका को प्रमुखता दी गई है। आसियान द्वारा अभी टकराव की जगह बातचीत को बढ़ावा देने की नीति से ही यह बात निकली है। इसी तरक़ीब से आसियान ने कंबोडिया के टकराव को समाप्त किया, पूर्वी तिमोर के संकट को सम्भाला है और पूर्व-एशियाई सहयोग पर बातचीत के लिए 1999 से नियमित रूप से वार्षिक बैठक आयोजित की है।

आसियान की मौजूदा आर्थिक शक्ति, खास तौर से भारत और चीन जैसे तेजी से विकसित होने वाले एशियाई देशों के साथ व्यापार और निवेश के मामले में उसकी प्रासंगिकता ने इसे और भी आकर्षक बना दिया है। शुरुआती वर्षों में भारतीय विदेश नीति ने आसियान पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। लेकिन हाल के वर्षों में भारत ने अपनी नीति सुधारने की कोशिश की है। भारत ने दो आसियान सदस्यों, सिंगापुर और थाईलैंड के साथ मुक्त व्यापार का समझौता किया है। भारत आसियान के साथ ही मुक्त व्यापार संधि करने का प्रयास कर रहा है। आसियान की असली ताकत अपने सदस्य देशों, सहभागी सदस्यों और बाकी गैर-क्षेत्रीय संगठनों के बीच निरंतर संवाद और परामर्श करने की नीति में है। यह एशिया का एकमात्र ऐसा क्षेत्रीय संगठन है जो एशियाई देशों और विश्व शक्तियों को राजनैतिक और सुरक्षा मामलों पर चर्चा के लिए राजनैतिक मंच उपलब्ध कराता है।

आसियान का झंडा

आसियान के प्रतीक-चिह्न में धान की दस बालियाँ दक्षिण-पूर्व एशिया के दस देशों को इंगित करती हैं जो आपस में मित्रता और एकता के धागे से बंधे हैं। वृत्त आसियान की एकता का प्रतीक है।

स्रोत: *www.aseansec.org*

केशव, द हिन्दू

भारत ने 1991 से 'पूरब की ओर चलो' की नीति अपनायी। इससे पूर्वी एशिया के देशों (आसियान, चीन, जापान और दक्षिण कोरिया) से उसके आर्थिक संबंधों में बढ़ोत्तरी हुई है।

चीनी अर्थव्यवस्था का उत्थान

आइए, अब हम अपने बिल्कुल नज़दीक के पड़ोसी और शक्ति के तीसरे बड़े केंद्र चीन की ओर रुख़ करें। आर्थिक शक्ति के रूप में चीन के उदय को पूरे विश्व में जिस तरह देखा जा रहा है उसे अगले पन्ने पर अंकित कार्टून एकदम ठीक-ठीक बता रहा है। 1978 के बाद से जारी चीन की आर्थिक सफलता को एक महाशक्ति के रूप में इसके उभरने के साथ जोड़कर देखा जाता है। आर्थिक

आसियान क्यों सफल रहा और दक्षेस (सार्क) क्यों नहीं? क्या इसलिए कि उस क्षेत्र में कोई बहुत बड़ा देश नहीं है?

खुद करें, खुद सीखें

नक़्शे में आसियान के सदस्य देशों को पहचानिए। नक़्शे में आसियान के सचिवालय को दिखाएँ।

सुधारों की शुरुआत करने के बाद से चीन सबसे ज्यादा तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रहा है और माना जाता है कि इस रफ्तार से चलते हुए 2040 तक वह दुनिया की सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति, अमरीका से भी आगे निकल जाएगा। आर्थिक स्तर पर अपने पड़ोसी मुल्कों से जुड़ाव के चलते चीन पूर्व एशिया के विकास का इंजन-जैसा बना हुआ है और इस कारण क्षेत्रीय मामलों में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया है। इसकी विशाल आबादी, बड़ा भू-भाग, संसाधन, क्षेत्रीय अवस्थिति और राजनैतिक प्रभाव इस तेज आर्थिक वृद्धि के साथ मिलकर चीन के प्रभाव को कई गुना बढ़ा देते हैं।

1949 में माओ के नेतृत्व में हुई साम्यवादी क्रांति के बाद चीनी जनवादी गणराज्य की स्थापना के समय यहाँ की आर्थिकी सोवियत मॉडल पर आधारित थी। आर्थिक रूप से पिछड़े साम्यवादी चीन ने पूँजीवादी दुनिया से अपने रिश्ते तोड़ लिए। ऐसे में इसके पास अपने ही संसाधनों से गुजारा करने के अलावा कोई चारा न था। हाँ, थोड़े समय तक इसे सोवियत मदद और सलाह भी मिली थी। इसने विकास का जो मॉडल अपनाया उसमें खेती से पूँजी निकाल कर सरकारी नियंत्रण में बड़े उद्योग खड़े करने पर जोर था। चूंकि इसके पास विदेशी बाज़ारों से तकनीक और सामानों की खरीद के लिए विदेशी मुद्रा की कमी थी इसलिए चीन ने आयातित सामानों को धीरे-धीरे घरेलू स्तर पर ही तैयार करवाना शुरू किया।

इस मॉडल में चीन ने अभूतपूर्व स्तर पर औद्योगिक अर्थव्यवस्था खड़ा करने का आधार बनाने के लिए सारे संसाधनों का इस्तेमाल किया। सभी नागरिकों को रोजगार और सामाजिक कल्याण योजनाओं का लाभ देने के दायरे में लाया गया और अपने नागरिकों को शिक्षित करने और उन्हें स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराने के मामले में चीन सबसे विकसित देशों से भी आगे निकल गया। अर्थव्यवस्था का विकास भी 5 से 6 फीसदी की दर से हुआ। लेकिन जनसंख्या में 2-3 फीसदी की वार्षिक वृद्धि इस विकास दर पर पानी फेर रही थी और बढ़ती आबादी विकास के लाभ से वंचित रह जा रही थी। खेती की पैदावार उद्योगों की पूरी ज़रूरत लायक अधिशेष नहीं दे पाती थी। अध्याय दो में हम सोवियत संघ की राज्य-नियंत्रित आर्थिकी के संकट की चर्चा कर चुके हैं। ऐसे ही संकट का सामना चीन को भी करना पड़ा। इसका औद्योगिक उत्पादन पर्याप्त तेजी से नहीं बढ़ रहा था। विदेशी व्यापार न के बराबर था और प्रति व्यक्ति आय बहुत कम थी।

चीनी नेतृत्व ने 1970 के दशक में कुछ बड़े नीतिगत निर्णय लिए। चीन ने 1972 में अमरीका से संबंध बनाकर अपने राजनैतिक

और आर्थिक एकांतवास को खत्म किया। 1973 में प्रधानमंत्री चाऊ एनलाई ने कृषि, उद्योग, सेना और विज्ञान-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आधुनिकीकरण के चार प्रस्ताव रखे। 1978 में तत्कालीन नेता देंग श्याओपेंग ने चीन में आर्थिक सुधारों और 'खुले द्वार की नीति' की घोषणा की। अब नीति यह हो गयी कि विदेश पूंजी और प्रौद्योगिकी के निवेश से उच्चतर उत्पादकता को प्राप्त किया जाए। बाज़ारमूलक अर्थव्यवस्था को अपनाने के लिए चीन ने अपना तरीका आजमाया।

चीन ने 'शॉक थेरेपी' पर अमल करने के बजाय अपनी अर्थव्यवस्था को चरणबद्ध ढंग से खोला।

1982 में खेती का निजीकरण किया गया और उसके बाद 1998 में उद्योगों का। व्यापार संबंधी अवरोधों को सिर्फ 'विशेष आर्थिक क्षेत्रों' के लिए ही हटाया गया है जहाँ विदेशी निवेशक अपने उद्यम लगा सकते हैं।

नयी आर्थिक नीतियों के कारण चीन की अर्थव्यवस्था को अपनी जड़ता से उबरने में मदद मिली। कृषि के निजीकरण के कारण कृषि-उत्पादों तथा ग्रामीण आय में उल्लेखनीय बढ़ोत्तरी हुई। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में निजी बचत का परिमाण बढ़ा और इससे ग्रामीण उद्योगों की तादाद बड़ी तेजी से बढ़ी। उद्योग और कृषि दोनों ही क्षेत्रों में चीन की अर्थव्यवस्था की वृद्धि-दर तेज रही। व्यापार के नये कानून तथा विशेष आर्थिक क्षेत्रों (स्पेशल इकॉनामिक ज़ोन-SEZ) के निर्माण से विदेश-व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। चीन पूरे विश्व में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए सबसे आकर्षक देश बनकर उभरा। चीन के पास विदेशी मुद्रा का अब विशाल भंडार है और इसके दम पर चीन दूसरे देशों में निवेश कर रहा है। चीन 2001 में विश्व व्यापार संगठन में शामिल हो गया। इस तरह दूसरे देशों के लिए अपनी अर्थव्यवस्था खोलने की दिशा में चीन ने एक क़दम और बढ़ाया। अब चीन की योजना विश्व आर्थिकी से अपने जुड़ाव को और गहरा करके भविष्य की विश्व व्यवस्था को एक मनचाहा रूप देने की है।

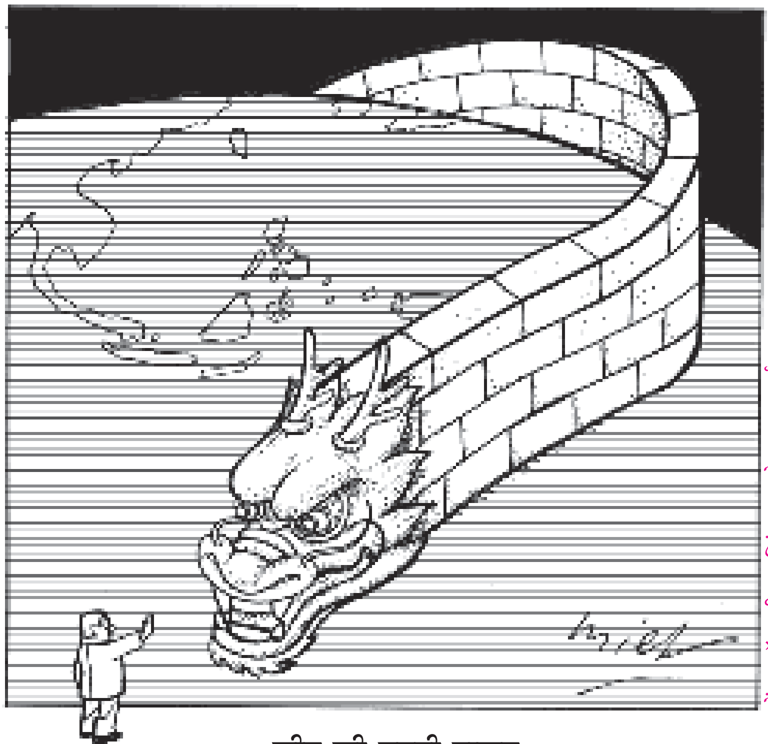

डॉ. कॉय मील, सिंगापुर, केगल्स कार्टून

चीन की बढ़ती ताकत

अमूमन चीन का नाम आते ही हमारे जेहन में चीन की दीवार और ड्रैगन की तस्वीर कौंधती है। चीन के आर्थिक उभार को दिखाने के लिए यहाँ कार्टूनिस्ट ने दोनों का इस्तेमाल किया है। पहचानिए कि कार्टून में दिखाया गया एक छोटा-सा आदमी कौन हो सकता है? क्या वह ड्रैगन को रोक सकता है?

चीन की आर्थिकी में तो नाटकीय सुधार हुआ है लेकिन वहाँ हर किसी को सुधारों का लाभ नहीं मिला है। चीन में बेरोजगारी बढ़ी है और 10 करोड़ लोग रोजगार की तलाश में है। वहाँ महिलाओं के रोजगार और काम करने के हालात उतने ही खराब हैं जितने यूरोप में 18वीं और 19वीं सदी में थे। इसके अलावा पर्यावरण के नुकसान और भ्रष्टाचार के बढ़ने जैसे परिणाम भी सामने आए। गाँव और शहर के तथा तटीय

चीन में सिर्फ छह ही विशेष आर्थिक क्षेत्र हैं और भारत में ऐसे 200 से ज्यादा क्षेत्रों को मंजूरी! क्या यह भारत के लिए अच्छा है?

और मुख्यभूमि पर रहने वाले लोगों के बीच आर्थिक फासला बढ़ता जा रहा है।

हालाँकि क्षेत्रीय और वैश्विक स्तर पर चीन एक ऐसी जबरदस्त आर्थिक शक्ति बनकर उभरा है कि सभी उसका लोहा मानने लगे हैं। चीन की अर्थव्यवस्था का बाहरी दुनिया से जुड़ाव और पारस्परिक निर्भरता ने अब यह स्थिति बना दी है कि अपने व्यावसायिक साझीदारों पर चीन का जबरदस्त प्रभाव बन चुका है और यही कारण है कि जापान, अमरीका, आसियान और रूस – सभी व्यापार के आगे चीन से बाकी विवादों को भुला चुके हैं। उम्मीद की जा रही है कि जल्दी ही चीन और ताइवान के मतभेद भी खत्म हो जाएँगे और ताइवान इसकी अर्थव्यवस्था के साथ ज्यादा घनिष्ठ रूप से जुड़ जायेगा। 1997 के वित्तीय संकट के बाद आसियान देशों की अर्थव्यवस्था को टिकाए रखने में चीन के आर्थिक उभार ने काफी मदद की है। लातिनी अमरीका और अफ्रीका में निवेश और मदद की इसकी नीतियाँ बताती हैं कि विकासशील देशों के मामले में चीन एक नई विश्व शक्ति के रूप में उभरता जा रहा है।

चीन के साथ भारत के संबंध

पश्चिमी साम्राज्यवाद के उदय से पहले भारत और चीन एशिया की महाशक्ति थे। चीन का अपने आसपास के इलाकों पर भी काफी प्रभाव था और आसपास के छोटे देश इसके प्रभुत्व को मानकर और कुछ नज़राना देकर चैन से रहा करते थे। चीनी राजवंशों के लम्बे शासन में मंगोलिया, कोरिया, हिन्द-चीन के कुछ इलाके और तिब्बत इसकी अधीनता मानते रहे थे। भारत के भी अनेक राजवंशों और साम्राज्यों का प्रभाव उनके अपने राज्य से बाहर भी रहा था। भारत हो या चीन, इनका

माइक लेन, केगल्स कार्टून

चीन : तब और अब

एस., केगल्स कार्टून

चीनी साइकिल

अध्याय की शुरुआत में दिए गए चित्र की भांति उपर्युक्त कार्टूनों में से पहला चीन के रुख़ में बदलाव को इंगित करता है। दूसरे कार्टून में साइकिल का प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया गया है। विश्व में सबसे ज्यादा साइकिलें चीन में इस्तेमाल की जाती हैं। कार्टून में साइकिल का इस्तेमाल आज के चीन के दोहरेपन को इंगित करने के लिए किया गया है। यह दोहरापन क्या है? क्या हम इसे अंतर्विरोध कह सकते हैं?

प्रभाव सिर्फ राजनैतिक नहीं था – यह आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक भी था। पर चीन और भारत अपने प्रभाव क्षेत्रों के मामले में कभी नहीं टकराए थे। इसी कारण दोनों के बीच राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रत्यक्ष संबंध सीमित ही थे। परिणाम यह हुआ कि दोनों देश एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह से नहीं जान सके और जब बीसवीं सदी में दोनों देश एक दूसरे से टकराए तो दोनों को ही एक-दूसरे के प्रति विदेश नीति विकसित करने में मुश्किलें आईं।

अंग्रेजी राज से भारत के आज़ाद होने और चीन द्वारा विदेशी शक्तियों को निकाल बाहर करने के बाद यह उम्मीद जगी थी कि ये दोनों मुल्क साथ आकर विकासशील दुनिया और खास तौर से एशिया के भविष्य को तय करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे। कुछ समय के लिए 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' का नारा भी लोकप्रिय हुआ। सीमा विवाद पर चले सैन्य संघर्ष ने इस उम्मीद को समाप्त कर दिया। आज़ादी के तत्काल बाद 1950 में चीन द्वारा तिब्बत को हड़पने तथा भारत-चीन सीमा पर बस्तियाँ बनाने के फैसले से दोनों देशों के बीच संबंध एकदम गड़बड़ हो गए। भारत और चीन दोनों देश अरुणाचल प्रदेश के कुछ इलाकों और लद्दाख के अक्साई-चिन क्षेत्र पर प्रतिस्पर्धी दावों के चलते 1962 में लड़ पड़े।

1962 के युद्ध में भारत को सैनिक पराजय झेलनी पड़ी और भारत-चीन सम्बन्धों पर इसका दीर्घकालिक असर हुआ। 1976 तक दोनों देशों के बीच कूटनैतिक संबंध समाप्त ही रहे। इसके बाद धीरे-धीरे दोनों के बीच सम्बन्धों में सुधार शुरू हुआ। 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में चीन का राजनीतिक नेतृत्व बदला। चीन की नीति में भी अब वैचारिक मुद्दों की जगह व्यावहारिक मुद्दे प्रमुख होते गए इसलिए चीन भारत के साथ संबंध सुधारने के लिए विवादास्पद मामलों को छोड़ने को तैयार हो गया। 1981 में सीमा विवादों को दूर करने के लिए वार्ताओं की शृंखला भी शुरू की गई।

शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद से भारत-चीन संबंधों में महत्त्वपूर्ण बदलाव आया है। अब इनके संबंधों का रणनीतिक ही नहीं, आर्थिक पहलू भी है। दोनों ही खुद को विश्व-राजनीति की उभरती शक्ति मानते हैं और दोनों ही एशिया की अर्थव्यवस्था और राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाना चाहेंगे।

दिसम्बर 1988 में राजीव गांधी द्वारा चीन का दौरा करने से भारत-चीन सम्बन्धों को सुधारने के प्रयासों को बढ़ावा मिला। इसके बाद से दोनों देशों ने टकराव टालने और सीमा पर शांति और यथास्थिति बनाए रखने के उपायों की शुरुआत की है। दोनों देशों ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान, विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में परस्पर सहयोग और व्यापार के लिए सीमा पर चार पोस्ट खोलने के समझौते भी किए हैं। 1999 से भारत और चीन के बीच व्यापार 30 फीसदी सालाना की दर से बढ़ रहा है। इससे चीन के साथ संबंधों में नयी गर्मजोशी आयी है। चीन और भारत के बीच 1992 में 33 करोड़ 80 लाख डॉलर का द्विपक्षीय व्यापार हुआ था जो 2006 में बढ़कर 18 अरब डॉलर का हो चुका है। हाल में, दोनों देश ऐसे मसलों पर भी सहयोग करने के लिए राजी हुए हैं जिनसे दोनों के बीच विभेद पैदा हो सकते थे, जैसे – विदेशों में ऊर्जा सौदा हासिल करने का मसला। वैश्विक धरातल पर भारत और चीन ने विश्व व्यापार संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों

खुद करें, खुद सीखें

चीन के राष्ट्रपति हू जिन्ताओ ने नवंबर 2006 में भारत का दौरा किया। इसे दौरे में जिन समझौतों पर हस्ताक्षर हुए उनके बारे में पता करें।

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- अपनी कक्षा को तीन समूहों में बाँटो।
- हर समूह को यूरोपीय संघ, आसियान और दक्षेस जैसे संगठनों के बारे में जानकारियाँ जुटाने का जिम्मा सौंपें।
- इनमें संगठन के उद्देश्य और कामकाज के बारे में सूचनाएं भी हों। इनकी बैठकों, शिखर सम्मेलनों की तस्वीरें भी जुटाई जा सकती हैं।
- हर समूह अपनी जानकारियाँ पूरी कक्षा के सामने रखे।

अध्यापकों के लिए

- अध्यापक इन संस्थाओं के कामकाज पर ध्यान केन्द्रित करें।
- छात्रों का ध्यान असैनिक/आर्थिक संगठनों की उपलब्धियों पर खींचें।
- क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों द्वारा अपने सदस्य देशों के विकास में निभाई जाने वाली भूमिका को बताएँ।
- विश्व शांति और सुरक्षा के वैकल्पिक नजरिए के रूप में आर्थिक संगठनों की बढ़ती भूमिका के प्रति बच्चों को जागरूक करें।

कुछ लोग कहते हैं कि चीनी माल हमारे बाज़ार में भर जाएँगे? पर वे हैं कहाँ?

के संबंध में एक जैसी नीतियाँ अपनायी हैं।

1998 में भारत के परमाणु हथियार परीक्षण को कुछ लोगों ने चीन से खतरे के मद्देनज़र उचित ठहराया था। लेकिन इससे भी दोनों के बीच संपर्क कम नहीं हुआ। यह सच है कि पाकिस्तान के परमाणु हथियार कार्यक्रम में भी चीन को मददगार माना जाता है। बांग्लादेश और म्यांमार से चीन के सैनिक संबंधों को भी दक्षिण एशिया में भारतीय हितों के खिलाफ माना जाता है। पर इसमें से कोई भी मुद्दा दोनों मुल्कों में टकराव करवा देने लायक नहीं माना जाता। इस बात का एक प्रमाण यह है कि इन चीजों के बने रहने के बावजूद सीमा विवाद सुलझाने की बातचीत और सैन्य स्तर पर सहयोग का कार्यक्रम जारी है। चीन और भारत के नेता तथा अधिकारी अब अक्सर नयी दिल्ली और बीजिंग का दौरा करते हैं। इससे दोनों देश एक-दूसरे को ज्यादा करीब से समझने लगे हैं। परिवहन और संचार मार्गों की बढ़ोत्तरी, समान आर्थिक हित तथा एक जैसे वैश्विक सरोकारों के कारण भारत और चीन के बीच संबंधों को ज्यादा सकारात्मक तथा मजबूत बनाने में मदद मिली है।

जापान

सोनी, पैनासोनिक, कैनन, सुजुकी, होंडा, ट्योटा और माज़्दा जैसे प्रसिद्ध जापानी ब्रांडों के नाम आपने ज़रूर सुनें होंगे। उच्च प्रौद्योगिकी के उत्पाद बनाने के लिए इनके नाम मशहूर हैं। जापान के पास प्राकृतिक संसाधन कम हैं और वह ज्यादातर कच्चे माल का आयात करता है। इसके बावजूद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जापान ने बड़ी तेजी से प्रगति की। जापान की अर्थव्यवस्था विश्व की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। एशिया के देशों में अकेला जापान ही समूह-8 के देशों में शामिल है। आबादी के लिहाज से विश्व में जापान का स्थान दसवाँ है।

परमाणु बम की विभीषिका झेलने वाला एकमात्र देश जापान है। जापान संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट में 20 प्रतिशत का योगदान करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट में अंशदान करने के लिहाज से जापान दूसरा सबसे बड़ा देश है। 1951 से जापान का अमरीका के साथ सुरक्षा-गठबंधन है। जापान के संविधान के अनुच्छेद 9 के अनुसार – ''राष्ट्र के संप्रभु अधिकार के रूप में युद्ध को तथा अंतर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में बल-प्रयोग अथवा धमकी से काम लेने के तरीके का जापान के लोग हमेशा के लिए त्याग करते हैं।'' जापान का सैन्य व्यय उसके सकल घरेलू उत्पाद का केवल 1 प्रतिशत है फिर भी सैन्य व्यय के लिहाज से विश्व में जापान का स्थान चौथा है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखकर अनुमान लगाइए कि वैकल्पिक शक्ति-केंद्र के रूप में जापान कितना प्रभावकारी होगा?

आसीमो, विश्व का सबसे अत्याधुनिक मानवरूपी रोबोट।

स्रोत: *http://nored.honda.com*

खुद करें, खुद सीखें

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने 2006 के दिसंबर में जापान का दौरा किया और कुछ समझौतों पर हस्ताक्षर किए। इनके बारे में जानकारी जुटाएँ।

प्रश्नावली

1. तिथि के हिसाब से इन सबको क्रम दें –
   (क) विश्व व्यापार संगठन में चीन का प्रवेश
   (ख) यूरोपीय आर्थिक समुदाय की स्थापना
   (ग) यूरोपीय संघ की स्थापना
   (घ) आसियान क्षेत्रीय मंच की स्थापना

2. 'ASEAN way' या आसियान शैली क्या है?
   (क) आसियान के सदस्य देशों की जीवन शैली है
   (ख) आसियान सदस्यों के अनौपचारिक और सहयोगपूर्ण कामकाज की शैली को कहा जाता है।
   (ग) आसियान सदस्यों की रक्षानीति है।
   (घ) सभी आसियान सदस्य देशों को जोड़ने वाली सड़क है।

प्रश्नावली

3. इनमें से किसने 'खुले द्वार' की नीति अपनाई?
   (क) चीन (ख) यूरोपीय संघ (ग) जापान (घ) अमरीका

4. खाली स्थान भरें –
   (क) 1992 में भारत और चीन के बीच .... और .... को लेकर सीमावर्ती लड़ाई हुई थी।
   (ख) आसियान क्षेत्रीय मंच के कामों में .... और .... करना शामिल है।
   (ग) चीन ने 1972 में .... के साथ दोतरफा संबंध शुरू करके अपना एकांतवास समाप्त किया।
   (घ) .... योजना के प्रभाव से 1948 में यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन की स्थापना हुई।
   (ङ) .... आसियान का एक स्तम्भ है जो इसके सदस्य देशों की सुरक्षा के मामले देखता है।

5. क्षेत्रीय संगठनों को बनाने के उद्देश्य क्या हैं?
6. भौगोलिक निकटता का क्षेत्रीय संगठनों के गठन पर क्या असर होता है?
7. 'आसियान विजन-2020' की मुख्य-मुख्य बातें क्या हैं?
8. आसियान समुदाय के मुख्य स्तंभों और उनके उद्देश्यों के बारे में बताएँ।
9. आज की चीनी अर्थव्यवस्था नियंत्रित अर्थव्यवथ्था से किस तरह अलग है?
10. किस तरह यूरोपीय देशों ने युद्ध के बाद की अपनी परेशानियाँ सुलझाईं? संक्षेप में उन कदमों की चर्चा करें जिनसे होते हुए यूरोपीय संघ की स्थापना हुई।
11. यूरोपीय संघ को क्या चीजें एक प्रभावी क्षेत्रीय संगठन बनाती हैं।
12. चीन और भारत की उभरती अर्थव्यवस्थाओं में मौजूदा एकध्रुवीय विश्व व्यवस्था को चुनौती दे सकने की क्षमता है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अपने तर्कों से अपने विचारों को पुष्ट करें।
13. मुल्कों की शांति और समृद्धि क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों को बनाने और मजबूत करने पर टिकी है। इस कथन की पुष्टि करें।
14. भारत और चीन के बीच विवाद के मामलों की पहचान करें और बताएँ कि वृहत्तर सहयोग के लिए इन्हें कैसे निपटाया जा सकता है। अपने सुझाव भी दीजिए।

अध्याय 5

समकालीन दक्षिण एशिया

परिचय

आइए, अब हम शीत युद्ध के दौर में विश्व के एक बड़े फ़लक पर हुए बदलावों से नज़र हटा कर अपना ध्यान अपने क्षेत्र यानी दक्षिण एशिया की ओर मोड़ें। बीसवीं सदी के आख़िरी सालों में जब भारत और पाकिस्तान ने खुद को परमाणु शक्ति-संपन्न राष्ट्रों की बिरादरी में बैठा लिया तो यह क्षेत्र अचानक पूरे विश्व की नज़र में महत्त्वपूर्ण हो उठा। स्पष्ट ही विश्व का ध्यान इस इलाके में चल रहे कई तरह के संघर्षों पर गया। इस क्षेत्र के देशों के बीच सीमा और नदी जल के बँटवारे को लेकर विवाद कायम है। इसके अतिरिक्त विद्रोह, जातीय संघर्ष और संसाधनों के बँटवारे को लेकर होने वाले झगड़े भी हैं। इन वजहों से दक्षिण एशिया का इलाका बड़ा संवेदनशील है और अनेक विशेषज्ञों का मानना है कि आज विश्व में यह क्षेत्र सुरक्षा के लिहाज से खतरे की आशंका वाला क्षेत्र है। साथ ही एक बात और है। इस इलाके के बहुत से लोग इस तथ्य की निशानदेही करते हैं कि दक्षिण एशिया के देश अगर आपस में सहयोग करें तो यह क्षेत्र विकास करके समृद्ध बन सकता है। इस अध्याय में हम दक्षिण एशिया के देशों के बीच मौजूद संघर्षों की प्रकृति और इन देशों के आपसी सहयोग को समझने की कोशिश करेंगे। दक्षिण एशिया के देशों की घरेलू राजनीति से इन झगड़ों या सहयोग का मिज़ाज तय होता है अथवा वह इनके मूल में हैं। इस वजह से अध्याय में पहले दक्षिण एशिया का परिचय दिया जाएगा और कुछ देशों की घरेलू राजनीति की चर्चा की जाएगी।

येगेनी डेलाक्रो ने सन् 1830 में एक पेंटिंग बनायी थी। इसका शीर्षक था–'लिबर्टी लीडिंग द पीपल'। पेंटिंग में स्वतंत्रता की देवी को जनता की अगुआई करते हुए चित्रित किया गया था। यहाँ दिया गया चित्र उसी पेंटिंग का सुभाष राय कृत रूपांतरण है।
हिमाल साउथ एशियन (जनवरी, 2007), द साउथ एशियन ट्रस्ट, नेपाल से साभार

© NCERT not to be republished

क्या है दक्षिण एशिया?

भारत और पाकिस्तान के बीच क्रिकेट-मैच कितना तनावपूर्ण होता है– यह हम बखूबी जानते हैं। हमने यह भी देखा है कि क्रिकेट मैच देखने के लिए पाकिस्तानी अथवा भारतीय 'फैन्स' जब एक-दूसरे के देशों में पहुँचते हैं तो उनका बड़ा आदर-सत्कार होता है; गर्मजोशी से मेजबानी की जाती है। यही हाल दक्षिण एशियाई मामलों का भी है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ सद्‌भाव और शत्रुता, आशा और निराशा तथा पारस्परिक शंका और विश्वास साथ-साथ बसते हैं।

खुद करें, खुद सीखें

दक्षिण एशिया के देशों की कुछ ऐसी विशेषताओं की पहचान करें जो इस क्षेत्र के देशों में तो समान रूप से लागू होती हैं परंतु पश्चिम एशिया अथवा दक्षिण पूर्व एशिया के देशों पर लागू नहीं होतीं।

शुरुआत हम एक बुनियादी सवाल से करें कि दक्षिण एशिया है क्या? अमूमन बांग्लादेश, भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका को इंगित करने के लिए 'दक्षिण एशिया' पद का व्यवहार किया जाता है। उत्तर की विशाल हिमालय पर्वत-श्रृंखला, दक्षिण का हिंद महासागर, पश्चिम का अरब सागर और पूरब में मौजूद बंगाल की खाड़ी से यह इलाका एक विशिष्ट प्राकृतिक क्षेत्र के रूप में नज़र आता है। यह भौगोलिक विशिष्टता ही इस उप-महाद्वीपीय क्षेत्र के भाषाई, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अनूठेपन के लिए जिम्मेदार है। इस क्षेत्र की चर्चा में जब-तब अफ़गानिस्तान और म्यांमार को भी शामिल किया जाता है। चीन इस क्षेत्र का एक प्रमुख देश है लेकिन चीन को दक्षिण एशिया का अंग नहीं माना जाता। इस अध्याय में हम 'दक्षिण एशिया' पद का इस्तेमाल उपर्युक्त सात देशों के लिए करेंगे। इस तरह परिभाषित दक्षिण एशिया हर अर्थ में विविधताओं से भरा-पूरा इलाका है फिर भी भू-राजनीतिक धरातल पर यह एक क्षेत्र है।

क्या इन देशों की कोई सुनिश्चित परिभाषा है? यह परिभाषा बनाता कौन है?

दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों में एक-सी राजनीतिक प्रणाली नहीं है। अनेक समस्याओं और सीमाओं के बावजूद भारत और श्रीलंका में ब्रिटेन से आज़ाद होने के बाद, लोकतांत्रिक व्यवस्था सफलतापूर्वक कायम है। भारत में लोकतंत्र के विकास के बारे में आप एक और क़िताब में विस्तार से पढ़ेंगे। इस क़िताब में आज़ादी के बाद के दिनों की भारतीय राजनीति की चर्चा की गई है। भारत के लोकतंत्र की बहुत सारी सीमाओं की तरफ इंगित किया जा सकता है लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि एक राष्ट्र के रूप में भारत हमेशा लोकतांत्रिक रहा है। यही बात श्रीलंका पर लागू होती है।

पाकिस्तान और बांग्लादेश में लोकतांत्रिक और सैनिक दोनों तरह के नेताओं का शासन रहा है। शीतयुद्ध के बाद के सालों में बांग्लादेश में लोकतंत्र कायम रहा। पाकिस्तान में शीतयुद्ध के बाद के सालों में लगातार दो लोकतांत्रिक सरकारें बनीं। पहली सरकार बेनज़ीर भुट्टो और दूसरी नवाज़ शरीफ़ के नेतृत्व में कायम हुई। लेकिन इसके बाद 1999 में पाकिस्तान में सैनिक तख्तापलट हुआ। तब से यहाँ सैनिक-शासन है। 2006 तक नेपाल में संवैधानिक राजतंत्र था और इस बात का खतरा बराबर बना हुआ था कि राजा अपने हाथ में कार्यपालिका की सारी शक्तियाँ ले लेगा। लेकिन, 2006 में एक सफल जन-विद्रोह हुआ और यहाँ लोकतंत्र की बहाली हुई। राजा की हैसियत न के बराबर रह गई। बांग्लादेश और नेपाल के अनुभवों के आधार पर हम कह सकते हैं कि पूरे दक्षिण एशिया में लोकतंत्र एक स्वीकृत मूल्य बन चला है।

दक्षिण एशिया के दो सबसे छोटे देशों में भी ऐसे ही बदलाव की बयार बह रही है। भूटान में अब भी राजतंत्र है लेकिन यहाँ के राजा ने भूटान में बहुदलीय लोकतंत्र स्थापित करने की योजना की शुरुआत कर दी है। दूसरा द्वीपीय देश मालदीव 1968 तक सल्तनत

© NCERT not to be republished

हुआ करता था। 1968 में यह एक गणतंत्र बना और यहाँ शासन की अध्यक्षात्मक प्रणाली अपनायी गयी। 2005 के जून में मालदीव की संसद ने बहुदलीय प्रणाली को अपनाने के पक्ष में एकमत से मतदान किया। मालदीवियन डेमोक्रेटिक पार्टी (एमडीपी) का देश के राजनीतिक मामलों में दबदबा है। 2005 के चुनावों के बाद मालदीव में लोकतंत्र मजबूत हुआ है क्योंकि इस चुनाव में विपक्षी दलों को कानूनी मान्यता दे दी गई।

दक्षिण एशिया में लोकतंत्र का रिकार्ड मिला-जुला रहा है। इसके बावजूद दक्षिण एशियाई देशों की जनता लोकतंत्र की आकांक्षाओं में सहभागी है। इस क्षेत्र के पाँच बड़े देशों में हाल ही में एक सर्वेक्षण किया गया था। सर्वेक्षण से यह बात ज़ाहिर हुई कि इन पाँचों देशों में लोकतंत्र को व्यापक जन-समर्थन हासिल है। इन देशों में हर वर्ग और धर्म के आम नागरिक – लोकतंत्र को अच्छा मानते हैं और प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र की संस्थाओं का समर्थन करते हैं। इन देशों के लोग शासन की किसी और प्रणाली की अपेक्षा लोकतंत्र को वरीयता देते हैं और मानते हैं कि उनके देश के लिए लोकतंत्र ही ठीक है। ये निष्कर्ष बड़े महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि पहले से माना जाता रहा है कि लोकतंत्र सिर्फ विश्व के धनी देशों में फल-फूल सकता है। इस लिहाज से देखें तो दक्षिण एशिया के लोकतंत्र के अनुभवों से लोकतंत्र की वैश्विक कल्पना का दायरा बढ़ा है।

आइए, हम देखें कि भारत को छोड़कर दक्षिण एशिया के अन्य चार बड़े देशों में लोकतंत्र का अनुभव कैसा रहा?

लोकतंत्र को तानाशाही के ऊपर वरीयता

इनमें से किसी एक कथन से सहमत

	बांग्लादेश	भारत	नेपाल	पाकिस्तान	श्रीलंका
लोकतंत्र बेहतर	69	70	62	37	71
कभी-कभी तानाशाही बेहतर	6	9	10	14	11
कोई फर्क नहीं पड़ता	25	21	28	49	18

अपने देश के लिए लोकतंत्र की उपयुक्तता पर बहुत कम लोगों को संदेह

आपके देश के लिए लोकतंत्र कितना उपयुक्त है?

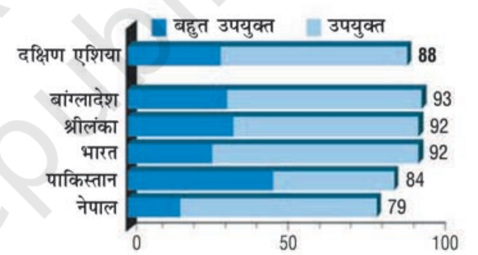

ये दोनों आरेख दक्षिण एशिया के पाँच बड़े देशों के 19 हजार से अधिक नागरिकों से लिए गए साक्षात्कार पर आधारित हैं।

स्रोत – एस डी एस ए टीम – स्टेट ऑव डेमोक्रेसी इन साऊथ एशिया, नयी दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2007

देश	आयु प्रत्याशा 2004	व्यस्क साक्षरता दर 2004	विद्यालयी नामांकन अनुपात 2004	प्रतिव्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (तुलनात्मक क्रय शक्ति) (डालर में) 2004	बाल मृत्यु दर (प्रति हजार बच्चे)	टी.बी. का फैलाव (प्रति लाख) जनसंख्या	अल्प पोषण में रहने वाली जनसंख्या का अनुपात	एक डालर प्रतिदिन से कम में जीने वाली जनसंख्या	साफ-सफाई की सुविधाओं तक पहुँच (% जनसंख्या) ग्रामीण	साफ-सफाई की सुविधाओं तक पहुँच (% जनसंख्या) शहरी	मानव विकास सूची में स्थान 2006
विश्व	67.3	-	67	8833	51	229	17				-
विकासशील देश	65.2	78.9	63	4775	57	275	17				
दक्षिण एशिया	63.7	60.9	56	3072	62	315	20				-
बांग्लादेश –	63.3	-	57	1870	56	435	30	36	71	41	137
भारत –	63.6	61	62	3139	62	312	20	34.7	61	15	126
नेपाल –	62.1	48.6	57	1490	59	257	17	24.1	73	22	138
पाकिस्तान –	63.4	49.9	38	2225	80	329	23	17	95	43	134
श्रीलंका –	74.3	90.7	63	4390	12	91	22	5.6	97	93	93

स्रोत: *मानव विकास रिपोर्ट, 2006*

© NCERT not to be republished

दक्षिण एशिया का घटनाक्रम (1947 से)

1947	: ब्रिटिश-राज की समाप्ति के बाद भारत और पाकिस्तान का स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय।
1948	: श्रीलंका (तत्कालीन सिलोन) को आज़ादी मिली; कश्मीर को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई।
1954-55	: पाकिस्तान शीतयुद्धकालीन सैन्य गुट 'सिएटो' और 'सेंटो' में शामिल हुआ।
सितंबर 1960	: भारत और पाकिस्तान ने सिंधु नदी जल समझौते पर हस्ताक्षर किए।
1962	: भारत और चीन के बीच सीमा-विवाद।
1965	: भारत-पाक युद्ध; संयुक्त राष्ट्रसंघ का भारत-पाक पर्यवेक्षण मिशन।
1966	: भारत और पाकिस्तान के बीच ताशकंद समझौता। शेख मुजीबुर्रहमान ने पूर्वी पाकिस्तान को ज्यादा स्वायत्तता देने के लिए छः सूत्री प्रस्ताव रखा।
मार्च 1971	: बांग्लादेश के नेताओं द्वारा आज़ादी की उद्घोषणा।
अगस्त 1971	: भारत और सोवियत संघ ने 20 सालों के लिए मैत्री संधि पर दस्तख़त किए।
दिसंबर 1971	: भारत-पाक युद्ध; बांग्लादेश की मुक्ति।
जुलाई 1972	: भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला-समझौता।
मई 1974	: भारत ने परमाणु-परीक्षण किए।
1976	: पाकिस्तान और बांग्लादेश के बीच कूटनयिक संबंध बहाल हुए।
दिसंबर 1985	: 'दक्षेस' के पहले सम्मेलन (ढाका) में दक्षिण एशिया के देशों ने 'दक्षेस' के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए।
1987	: भारत-श्रीलंका समझौता; भारतीय शांति सेना का श्रीलंका में अभियान (1987-90)।
1988	: मालदीव में भाड़े के सैनिकों द्वारा किए गए षड्यंत्र को नाकाम करने के लिए भारत ने वहाँ सेना भेजी। भारत और पाकिस्तान के बीच एक-दूसरे के परमाणु ठिकानों और सुविधाओं पर हमला न करने के समझौते पर हस्ताक्षर हुए।
1988-91	: पाकिस्तान, बांग्लादेश और नेपाल में लोकतंत्र की बहाली।
1993	: 'दक्षेस' के सातवें सम्मेलन (ढाका) में आपसी व्यापार में दक्षेस के देशों को वरीयता देने की संधि (SAPTA) पर हस्ताक्षर।
दिसंबर 1996	: गंगा नदी के पानी में हिस्सेदारी के मसले पर भारत और बांग्लादेश के बीच फरक्का संधि पर हस्ताक्षर हुए।
मई 1998	: भारत और पाकिस्तान ने परमाणु परीक्षण किए।
दिसंबर 1998	: भारत और श्रीलंका ने मुक्त व्यापार संधि पर हस्ताक्षर किए।
फरवरी 1999	: भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी बस-यात्रा कर लाहौर गए तथा शांति के एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए।
जून-जुलाई 1999	: भारत और पाकिस्तान के बीच करगिल-युद्ध।
जुलाई 2001	: वाजपेयी-मुशर्रफ के बीच आगरा-बैठक असफल।
फरवरी 2004	: 12वें दक्षेस सम्मेलन में 'मुक्त व्यापार संधि (SAFTA)' पर हस्ताक्षर हुए।

पाकिस्तान में सेना और लोकतंत्र

पाकिस्तान में पहले संविधान के बनने के बाद देश के शासन की बाग़डोर जनरल अयूब खान ने अपने हाथों में ले ली और जल्दी ही अपना निर्वाचन भी करा लिया। उनके शासन के खिलाफ़ जनता का गुस्सा भड़का और ऐसे में उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ा। इससे एक बार फिर सैनिक शासन का रास्ता साफ हुआ और जनरल याहिया खान ने शासन की बागडोर संभाली। याहिया खान के सैनिक-शासन के दौरान पाकिस्तान को बांग्लादेश-संकट का सामना करना पड़ा और 1971 में भारत के साथ पाकिस्तान का युद्ध हुआ। युद्ध के परिणामस्वरूप पूर्वी पाकिस्तान टूटकर एक स्वतंत्र देश बना और बांग्लादेश कहलाया। इसके बाद पाकिस्तान में जुल्फ़िकार अली भुट्टो के नेतृत्व में एक निर्वाचित सरकार बनी जो 1971 से 1977 तक कायम रही। 1977 में जेनरल जियाउल-हक ने इस सरकार को गिरा दिया। 1982 के बाद जेनरल जियाउल-हक को लोकतंत्र-समर्थक आंदोलन का सामना करना पड़ा और 1988 में एक बार फिर बेनज़ीर भुट्टो के नेतृत्व में लोकतांत्रिक सरकार बनी। पाकिस्तान में इसके बाद की राजनीति बेनज़ीर भुट्टो की पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी और मुस्लिम लीग के आपसी होड़ के इर्द-गिर्द घूमती रही। निर्वाचित लोकतंत्र की यह अवस्था 1999 तक कायम रही। 1999 में एक बार फिर सेना ने दखल दी और जेनरल परवेज़ मुशर्रफ ने प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ़ को हटा दिया। 2001 में परवेज़ मुशर्रफ ने अपना निर्वाचन राष्ट्रपति के रूप में कराया। पाकिस्तान पर अब भी सेना की हुकूमत है हालाँकि सैनिक शासकों ने अपने शासन को लोकतांत्रिक जताने के लिए चुनाव कराए हैं।

© NCERT not to be republished

पाकिस्तान में लोकतंत्र के स्थायी न बन पाने के कई कारण हैं। यहाँ सेना, धर्मगुरु और भूस्वामी अभिजनों का सामाजिक दबदबा है। इसकी वज़ह से कई बार निर्वाचित सरकारों को गिराकर सैनिक शासन कायम हुआ। पाकिस्तान की भारत के साथ तनातनी रहती है। इस वज़ह से सेना-समर्थक समूह ज्यादा मजबूत हैं और अक्सर ये समूह दलील देते हैं कि पाकिस्तान के राजनीतिक दलों और लोकतंत्र में खोट है। राजनीतिक दलों के स्वार्थ साधन तथा लोकतंत्र की धमाचौकड़ी से पाकिस्तान की सुरक्षा खतरे में पड़ेगी। इस तरह ये ताकतें सैनिक शासन को जायज़ ठहराती हैं। लोकतंत्र तो खैर पाकिस्तान में पूरी तरह सफल नहीं हो सका है लेकिन इस देश में लोकतंत्र का जज़्बा बहुत मज़बूती के साथ कायम रहा है। पाकिस्तान में अपेक्षाकृत स्वतंत्र और साहसी प्रेस मौजूद है और वहाँ मानवाधिकार आंदोलन भी काफी मजबूत है।

पाकिस्तान में लोकतांत्रिक शासन चले- इसके लिए कोई खास अंतर्राष्ट्रीय समर्थन नहीं मिलता। इस वज़ह से भी सेना को अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए बढ़ावा मिला है। अमरीका तथा अन्य पश्चिमी देशों ने अपने-अपने स्वार्थो से गुज़रे वक्त में पाकिस्तान में सैनिक शासन को बढ़ावा दिया। इन देशों को उस आतंकवाद से डर लगता है जिसे ये देश 'विश्वव्यापी इस्लामी आतंकवाद' कहते हैं। इन देशों को यह भी डर सताता है कि पाकिस्तान के परमाण्विक हथियार कहीं इन आतंकवादी समूहों के हाथ न लग जाएँ। इन बातों के मद्देनज़र पाकिस्तान को ये देश 'पश्चिम' तथा दक्षिण एशिया में पश्चिमी हितों का रखवाला मानते हैं।

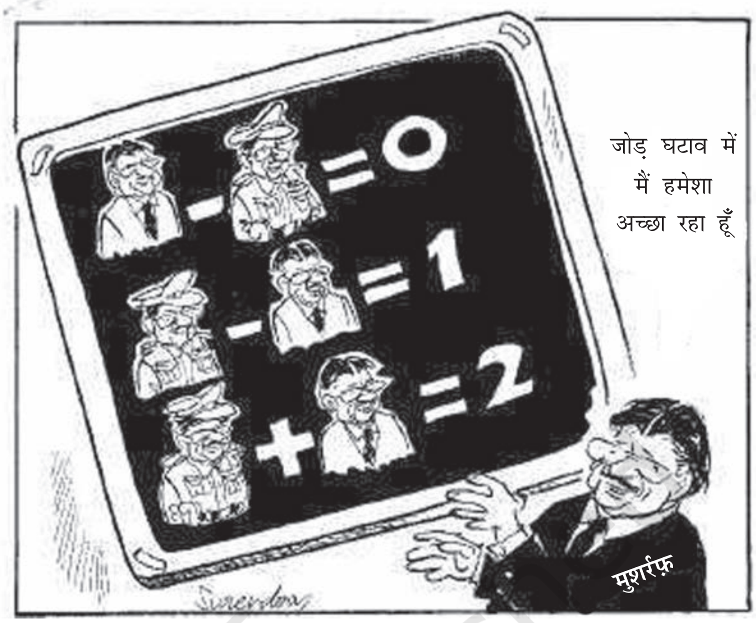

सुरेंदर, द हिंदू

सेना के जेनरल और पाकिस्तान के राष्ट्रपति के रूप में पाकिस्तान के शासक परवेज़ मुशर्रफ़ की दोहरी भूमिका की ओर यह कार्टून संकेत करता है। कार्टून में दिए गए समीकरण को ध्यान से पढ़ें और कार्टून के संदेश को लिखें।

बांग्लादेश में लोकतंत्र

1947 से 1971 तक बांग्लादेश पाकिस्तान का अंग था। अंग्रेजी राज के समय के बंगाल और असम के विभाजित हिस्सों से पूर्वी पाकिस्तान का यह क्षेत्र बना था। इस क्षेत्र के लोग पश्चिमी पाकिस्तान के दबदबे और अपने ऊपर उर्दू भाषा को लादने के ख़िलाफ़ थे। पाकिस्तान के निर्माण के तुरंत बाद ही यहाँ के लोगों ने बंगाली संस्कृति और भाषा के साथ किए जा रहे दुर्व्यवहार के खिलाफ़ विरोध जताना शुरू कर दिया। इस क्षेत्र की जनता ने प्रशासन में अपने न्यायोचित प्रतिनिधित्व तथा राजनीतिक सत्ता में समुचित हिस्सेदारी की माँग भी उठायी। पश्चिमी पाकिस्तान के प्रभुत्व के खिलाफ़ जन-संघर्ष का नेतृत्व शेख मुजीबुर्रहमान ने किया। उन्होंने पूर्वी क्षेत्र के लिए स्वायत्तता की माँग की। शेख मुजीबुर्रहमान

एक ओर पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी थे जो मिलकर एक हो गए; दूसरी ओर भारत और पाकिस्तान हैं, जहाँ लोगों का एक-दूसरे देश में जाना भी आसान नहीं है।

© NCERT not to be republished

के नेतृत्व वाली अवामी लीग को 1970 के चुनावों में पूर्वी पाकिस्तान की सारी सीटों पर विजय मिली। अवामी लीग को संपूर्ण पाकिस्तान के लिए प्रस्तावित संविधान सभा में बहुमत हासिल हो गया। लेकिन सरकार पर पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं का दबदबा था और सरकार ने इस सभा को आहूत करने से इंकार कर दिया। शेख़ मुज़ीब को गिरफ़्तार कर लिया गया। जेनरल याहिया खान के सैनिक शासन में पाकिस्तानी सेना ने बंगाली जनता के आंदोलन को कुचलने की कोशिश की। हज़ारों लोग पाकिस्तानी सेना के हाथो मारे गए। इस वज़ह से पूर्वी पाकिस्तान से बड़ी संख्या में लोग भारत पलायन कर गए। भारत के सामने इन शरणार्थियों को संभालने की समस्या आन खड़ी हुई। भारत की सरकार ने पूर्वी पाकिस्तान के लोगों की आज़ादी की माँग का समर्थन किया और उन्हें वित्तीय और सैन्य सहायता दी। इसके परिणामस्वरूप 1971 में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ गया। युद्ध की समाप्ति पूर्वी पाकिस्तान में पाकिस्तानी सेना के आत्मसमर्पण तथा एक स्वतंत्र राष्ट्र 'बांग्लादेश' के निर्माण के साथ हुई।

बांग्लादेश ने अपना संविधान बनाकर उसमें अपने को एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक तथा समाजवादी देश घोषित किया। बहरहाल, 1975 में शेख मुजीबुर्रहमान ने संविधान में संशोधन कराया और संसदीय प्रणाली की जगह अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को मान्यता मिली। शेख मुज़ीब ने अपनी पार्टी अवामी लीग को

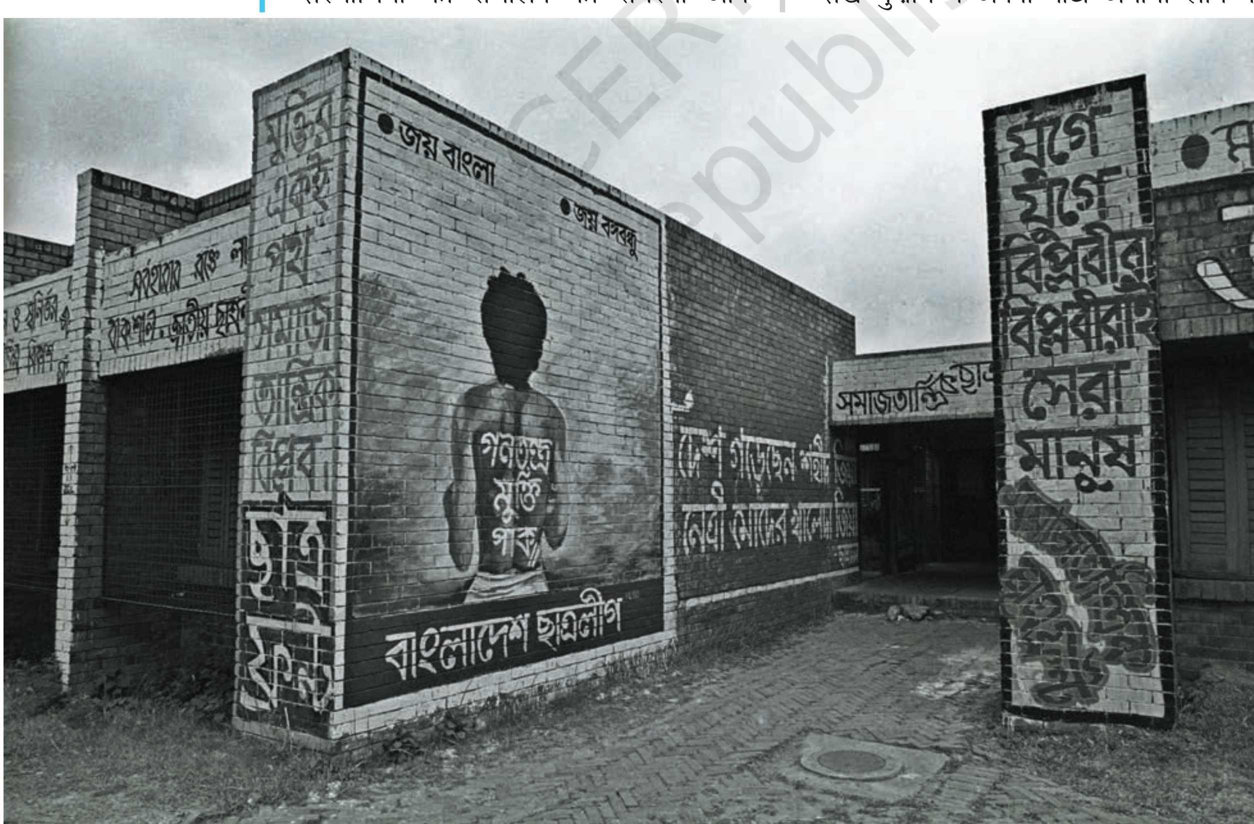

1987 में जेनरल इरशाद के खिलाफ लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शन के दौरान पुलिस द्वारा मारे गए नूर हुसैन की याद में ढाका विश्वविद्यालय में दीवार पर बनी एक चित्रमाला। उसकी पीठ पर अंकित है – गणतंत्र मुक्त पाक। दीवार पर 'जय बांग्ला', 'जय बंगबंधु', 'विप्लववीर ही सच्चे इंसान हैं' और 'क्रांति ही मुक्ति का इकलौता रास्ता है' जैसे नारे लिखे हैं।

शाहिदुल आलम, ड्रिक से साभार

छोड़कर अन्य सभी पार्टियों को समाप्त कर दिया। इससे तनाव और संघर्ष की स्थिति पैदा हुई। 1975 के अगस्त में सेना ने उनके ख़िलाफ बग़ावत कर दी और इस नाटकीय तथा त्रासद घटनाक्रम में शेख मुज़ीब सेना के हाथो मारे गए। नये सैनिक-शासक जियाउर्रहमान ने अपनी बांग्लादेश नेशनल पार्टी बनायी और 1979 के चुनाव में विजयी रहे। जियाउर्रहमान की हत्या हुई और लेफ्टिनेंट ज़ेनरल एच एम इरशाद के नेतृत्व में बांग्लादेश में एक और सैनिक-शासन ने बागडोर संभाली। लेकिन, बांग्लादेश की जनता जल्दी ही लोकतंत्र के समर्थन में उठ खड़ी हुई। आंदोलन में छात्र आगे-आगे चल रहे थे। बाध्य होकर जेनरल इरशाद ने एक हद तक राजनीतिक गतिविधियों की छूट दी। इसके बाद के समय में जेनरल इरशाद पाँच सालों के लिए राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। जनता के व्यापक विरोध के आगे झुकते हुए लेफ्टिनेंट जेनरल इरशाद को राष्ट्रपति का पद 1990 में छोड़ना पड़ा। 1991 में चुनाव हुए। इसके बाद से बांग्लादेश में बहुदलीय चुनावों पर आधारित प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र कायम है।

नेपाल में राजतंत्र और लोकतंत्र

नेपाल अतीत में एक हिन्दू-राज्य था फिर आधुनिक काल में कई सालों तक यहाँ संवैधानिक राजतंत्र रहा। संवैधानिक राजतंत्र के दौर में नेपाल की राजनीतिक पार्टियाँ और आम जनता ज्यादा खुले और उत्तरदायी शासन की आवाज़ उठाते रहे। लेकिन राजा ने सेना की सहायता से शासन पर पूरा नियंत्रण कर लिया और नेपाल में लोकतंत्र की राह अवरुद्ध हो गई।

एक मजबूत लोकतंत्र-समर्थक आंदोलन की चपेट में आकर राजा ने 1990 में नए लोकतांत्रिक संविधान की माँग मान ली। नेपाल में लोकतांत्रिक सरकारों का कार्यकाल बहुत छोटा और समस्याओं से भरा रहा। 1990 के दशक में नेपाल के माओवादी नेपाल के अनेक हिस्सों में अपना प्रभाव जमाने में कामयाब हुए। माओवादी, राजा और सत्ताधारी अभिजन के खिलाफ़ सशस्त्र विद्रोह करना चाहते थे। इस वज़ह से राजा की सेना और माओवादी गुरिल्लों के बीच हिंसक लड़ाई छिड़ गई। कुछ समय तक राजा की सेना, लोकतंत्र-समर्थकों और माओवादियों के बीच त्रिकोणीय संघर्ष हुआ। 2002 में राजा ने संसद को भंग कर दिया और सरकार को गिरा दिया। इस तरह नेपाल में जो भी थोड़ा-बहुत लोकतंत्र था उसे राजा ने खत्म कर दिया।

अप्रैल 2006 में यहाँ देशव्यापी लोकतंत्र-समर्थक प्रदर्शन हुए। संघर्षरत लोकतंत्र-समर्थक शक्तियों ने अपनी पहली बड़ी जीत हासिल की जब राजा ज्ञानेन्द्र ने बाध्य होकर संसद को बहाल किया। इसे अप्रैल 2002 में भंग कर दिया गया था। मोटे तौर पर अहिंसक रहे इस प्रतिरोध का नेतृत्व सात दलों के गठबंधन (सेवेन पार्टी अलाएंस), माओवादी तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं ने किया।

नेपाल में लोकतंत्र की आमद अभी मुकम्मल नहीं हुई है। फिलहाल, नेपाल अपने इतिहास के एक अद्वितीय दौर से गुज़र रहा है क्योंकि वहाँ संविधान-सभा के गठन की दिशा में कदम उठाए जा रहे हैं। यह संविधान-सभा नेपाल का संविधान लिखेगी। नेपाल में कुछ लोग अब भी मानते हैं कि अलंकारिक अर्थों में राजा का पद कायम रखना ज़रूरी है ताकि नेपाल अपने अतीत से जुड़ा रहे। माओवादी समूहों ने सशस्त्र संघर्ष की राह छोड़ देने की बात मान ली है। माओवादी चाहते हैं कि संविधान में मूलगामी सामाजिक आर्थिक पुनर्रचना के कार्यक्रमों को शामिल किया

खुद करें, खुद सीखें

बांग्लादेश के ग्रामीण बैंक के बारे में ज्यादा जानकारी जुटायें। क्या भारत में ग़रीबी कम करने के लिए ऐसी ही जुगत लगा सकते हैं?

© NCERT not to be republished

नेपाल तो सचमुच बड़ा रोमांचक जान पड़ता है। काश! मैं नेपाल में होती।

जाय। सात दलों के गठबंधन में शामिल हरेक दल को यह बात स्वीकार हो – ऐसा नहीं लगता। माओवादी और कुछ अन्य राजनीतिक समूह भारत की सरकार और नेपाल के भविष्य में भारतीय सरकार की भूमिका को लेकर बहुत शंकित हैं।

श्रीलंका में जातीय संघर्ष और लोकतंत्र

हम देख चुके हैं कि आज़ादी (1948) के बाद से लेकर अब तक श्रीलंका में लोकतंत्र कायम है। लेकिन, श्रीलंका को एक कठिन चुनौती का सामना करना पड़ा। यह चुनौती न तो सेना की थी और न ही राजतंत्र की। श्रीलंका को जातीय संघर्ष का सामना करना पड़ा जिसकी माँग है कि श्रीलंका के एक क्षेत्र को अलग राष्ट्र बनाया जाय।

आज़ादी के बाद से (श्रीलंका को उन दिनों सिलोन कहा जाता था) श्रीलंका की राजनीति पर बहुसंख्यक सिंहली समुदाय के हितों की नुमाइंदगी करने वालों का दबदबा रहा है। ये लोग भारत छोड़कर श्रीलंका आ बसी एक बड़ी तमिल आबादी के खिलाफ़ हैं। तमिलों का बसना श्रीलंका के आज़ाद होने के बाद भी जारी रहा। सिंहली राष्ट्रवादियों का मानना था कि श्रीलंका में तमिलों के साथ कोई 'रियायत' नहीं बरती जानी चाहिए क्योंकि श्रीलंका सिर्फ सिंहली लोगों का है। तमिलों के प्रति उपेक्षा भरे बरताव से एक उग्र तमिल राष्ट्रवाद की आवाज़ बुलंद हुई। 1983 के बाद से उग्र तमिल संगठन 'लिबरेशन टाइगर्स ऑव तमिल ईलम' (लिट्टे) श्रीलंकाई सेना के साथ सशस्त्र संघर्ष कर रहा है। इसने 'तमिल ईलम' यानी श्रीलंका के तमिलों के लिए एक अलग देश की माँग की है। श्रीलंका के उत्तर पूर्वी हिस्से पर लिट्टे का नियंत्रण है।

श्रीलंका की समस्या भारतवंशी लोगों से जुड़ी है। भारत की तमिल जनता का भारतीय सरकार पर भारी दबाव है कि वह श्रीलंकाई तमिलों के हितों की रक्षा करे। भारतीय सरकार ने समय-समय पर तमिलों के सवाल पर श्रीलंका की सरकार से बातचीत की कोशिश

2

1

यहाँ दो चित्र दिए गए हैं। पहले चित्र में लोकतंत्र समर्थक दुर्गा थापा को लोकतंत्र-बहाली की एक रैली (काठमांडू, 1990) में भाग लेते हुए दिखाया गया है। दूसरी तस्वीर 2006 की है। इसमें भी दुर्गा थापा को दिखाया गया है लेकिन इस बार वे लोकतंत्र बहाली के दूसरे आंदोलन की सफलता का उत्सव मना रही हैं।

चित्र – मिन बजराचार्य से साभार

© NCERT not to be republished

की है। लेकिन 1987 में भारतीय सरकार श्रीलंका के तमिल मसले में प्रत्यक्ष रूप से शामिल हुई। भारत की सरकार ने श्रीलंका से एक समझौता किया तथा श्रीलंका सरकार और तमिलों के बीच रिश्ते सामान्य करने के लिए भारतीय सेना को भेजा। आखिर में भारतीय सेना लिट्टे के साथ संघर्ष में फंस गई। भारतीय सेना की उपस्थिति को श्रीलंका की जनता ने भी कुछ ख़ास पसंद नहीं किया। श्रीलंकाई जनता ने समझा कि भारत श्रीलंका के अंदरूनी मामलों में दखलंदाजी कर रहा है। 1989 में भारत ने अपनी 'शांति सेना' लक्ष्य हासिल किए बिना वापस बुला ली।

श्रीलंका के इस संकट का हिंसक चरित्र बरकरार है। बहरहाल, अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थ के रूप में नार्वे और आइसलैंड जैसे स्केंडिनेवियाई देश युद्धरत दोनों पक्षों को फिर से आपस में बातचीत करने के लिए राजी कर रहे हैं। श्रीलंका का भविष्य इन्हीं वार्ताओं पर निर्भर है।

संघर्षों की चपेट में होने के बाद भी श्रीलंका ने अच्छी आर्थिक वृद्धि और विकास के उच्च स्तर को हासिल किया है। जनसंख्या की वृद्धि-दर पर सफलतापूर्वक नियंत्रण करने वाले विकासशील देशों में श्रीलंका प्रथम है। दक्षिण एशिया के देशों में सबसे पहले श्रीलंका ने ही अपनी अर्थव्यवस्था का उदारीकरण किया। गृहयुद्ध से गुजरने के बावजूद कई सालों से इस देश का प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद दक्षिण एशिया में सबसे ज्यादा है। अंदरूनी संघर्ष के झंझावातों को झेलकर भी श्रीलंका ने लोकतांत्रिक राजव्यवस्था कायम रखी है।

भारत-पाकिस्तान संघर्ष

आइए, अब हम घरेलू राजनीति के दायरे से बाहर निकलें और इस क्षेत्र के अंतर्राष्ट्रीय

केशव, द हिंदू

यह कार्टून शांति वार्ताओं में श्रीलंका के नेतृत्व के आगे मौजूद दुविधा को दिखाता है। एक ओर शेर के रूप में सिंहली कट्टरपंथी हैं और दूसरी ओर बाघ के रूप में तमिल उग्रवादी।

संबंधों के ऐसे दायरों पर नज़र डालें जहाँ संघर्ष हुए हैं। शीतयुद्ध की समाप्ति का यह अर्थ नहीं कि इस इलाके में भी संघर्ष और तनाव समाप्त हो गए। हम आंतरिक लोकतंत्र या जातीय संघर्ष के मसलों पर हुए टकरावों को देख चुके हैं। लेकिन, कुछ महत्त्वपूर्ण संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति के भी हैं। दक्षिण एशिया में भारत की स्थिति केंद्रीय है और इस वज़ह से इनमें से अधिकांश संघर्षों का रिश्ता भारत से है।

इन संघर्षों में सबसे प्रमुख और सर्वग्रासी संघर्ष भारत और पाकिस्तान के बीच का संघर्ष है। विभाजन के तुरंत बाद दोनों देश कश्मीर के मसले पर लड़ पड़े। पाकिस्तान की सरकार का दावा था कि कश्मीर पाकिस्तान का है। भारत और पाकिस्तान के बीच 1947-48 तथा 1965 के युद्ध से इस मसले का समाधान नहीं हुआ। 1948 के युद्ध के फलस्वरूप कश्मीर के दो हिस्से हो गए। एक हिस्सा पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर कहलाया जबकि दूसरा हिस्सा भारत का जम्मू-कश्मीर प्रान्त बना। दोनों के

केशव, द हिंदू

भारत-पाक वार्ताओं के चालू दौर पर एक नज़रिया

बीच एक नियंत्रण-सीमा रेखा है। 1971 में भारत ने पाकिस्तान के खिलाफ एक निर्णायक युद्ध जीता लेकिन कश्मीर मसला अनसुलझा ही रहा।

सामरिक मसलों जैसे सियाचिन ग्लेशियर पर नियंत्रण तथा हथियारों की होड़ को लेकर भी भारत और पाकिस्तान के बीच तनातनी रहती है। 1990 के दशक में दोनों देशों ने परमाणु हथियार और ऐसे हथियारों को एक-दूसरे पर दागने की क्षमता वाले मिसाइल हासिल कर लिए। इससे दोनों देशों के बीच हथियारों की होड़ ने एक नया चरित्र ग्रहण किया है। 1998 में भारत ने पोखरण में और इसके कुछ दिनों के अंदर ही पाकिस्तान ने चगाई पहाड़ी पर परमाणु-परीक्षण किए। इसके बाद से ऐसा लगता है कि भारत और पाकिस्तान एक सैन्य-संबंध में बंध चुके हैं और इनके बीच सीधे और सर्वव्यापी युद्ध छिड़ने की आशंका कम हो गई है।

लेकिन, दोनों देशों की सरकारें लगातार एक दूसरे को संदेह की नज़र से देखती हैं। भारत सरकार का आरोप है कि पाकिस्तान सरकार ने लुके-छुपे ढंग से हिंसा की रणनीति जारी रखी है। आरोप है कि वह कश्मीरी उग्रवादियों को हथियार, प्रशिक्षण और धन देता है तथा भारत पर आतंकवादी हमले के लिए उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। भारत सरकार का यह भी मानना है कि पाकिस्तान ने 1985-1995 की अवधि में खालिस्तान-समर्थक उग्रवादियों को हथियार तथा गोले-बारुद दिए थे। पाकिस्तान की खुफिया एजेंसी इंटर सर्विसेज इंटेलीजेंस (आईएसआई) पर बांग्लादेश और नेपाल के गुप्त ठिकानों से पूर्वोत्तर भारत में भारत-विरोधी अभियानों में संलग्न होने का आरोप है। इसके जवाब में पाकिस्तान की सरकार भारतीय सरकार और उसकी खुफिया एजेंसियों पर सिंध और बलूचिस्तान में समस्या को भड़काने का आरोप लगाती है।

भारत और पाकिस्तान के बीच नदी-जल के बँटवारे के सवाल पर भी तनातनी हुई है। 1960 तक दोनों के बीच सिन्धु नदी के इस्तेमाल को लेकर तीखे विवाद हुए। संयोग से, 1960 में विश्व बैंक की मदद से भारत और पाकिस्तान ने 'सिंधु-जल संधि' पर दस्तख़त किए और यह संधि भारत-पाक के बीच कई सैन्य संघर्षों के बावजूद अब भी कायम है। हालाँकि सिंधु जल-संधि की व्याख्या और नदी-जल के इस्तेमाल को लेकर अभी भी कुछ छोटे-मोटे विवाद हैं। कच्छ के रन में सरक्रिक की सीमारेखा को लेकर दोनों देशों के बीच मतभेद हैं। यह विवाद छोटा जान पड़ता है लेकिन इसके साथ एक चिन्ता जुड़ी हुई है। इस विवाद का समाधान जिस ढंग से किया जाएगा उसका असर सरक्रिक

कश्मीर मसले पर होने वाली बातचीत ऐसी जान पड़ती है मानो भारत और पाकिस्तान के शासक अपनी जायदाद का झगड़ा निपटा रहे हों। कश्मीरियों को इसमें कैसा लगता होगा?

© NCERT not to be republished

इलाके से सटे समुद्री-संसाधन के नियंत्रण पर भी पड़ेगा। भारत और पाकिस्तान के बीच इन सभी मामलों के बारे में वार्ताओं के दौर चल रहे हैं।

भारत और उसके अन्य पड़ोसी देश

बांग्लादेश और भारत के बीच गंगा और ब्रह्मपुत्र नदी के जल में हिस्सेदारी सहित कई मुद्दों पर मतभेद हैं। भारतीय सरकारों के बांग्लादेश से नाखुश होने के कारणों में भारत में अवैध आप्रवास पर ढाका के खंडन, भारत-विरोधी इस्लामी कट्टरपंथी जमातों को समर्थन, भारतीय सेना को पूर्वोत्तर भारत में जाने के लिए अपने इलाके से रास्ता देने से बांग्लादेश के इंकार, ढाका के भारत को प्राकृतिक गैस निर्यात न करने के फैसले तथा म्यांमार को बांग्लादेशी इलाके से होकर भारत को प्राकृतिक गैस निर्यात न करने देने जैसे मसले शामिल हैं। बांग्लादेश की सरकार का मानना है कि भारतीय सरकार नदी-जल में हिस्सेदारी के सवाल पर इलाके के दादा की तरह बरताव करती है। इसके अलावा भारत की सरकार पर चटगाँव पर्वतीय क्षेत्र में विद्रोह को हवा देने; बांग्लादेश के प्राकृतिक गैस में सेंधमारी करने और व्यापार में बेईमानी बरतने के भी आरोप हैं।

विभेदों के बावजूद भारत और बांग्लादेश कई मसलों पर सहयोग करते हैं। पिछले दस वर्षों के दौरान दोनों के बीच आर्थिक संबंध ज्यादा बेहतर हुए हैं। बांग्लादेश भारत के 'पूरब चलो' की नीति का हिस्सा है। इस नीति के अन्तर्गत म्यांमार के ज़रिए दक्षिण-पूर्व एशिया से संपर्क साधने की बात है। आपदा-प्रबंधन और पर्यावरण के मसले पर भी दोनों देशों ने निरंतर सहयोग किया है। इस बात के भी प्रयास किए जा रहे हैं कि साझे खतरों को पहचान कर तथा एक दूसरे की ज़रूरतों के प्रति ज्यादा संवेदनशीलता बरतकर सहयोग के दायरे को बढ़ाया जाए।

भारत और नेपाल के बीच मधुर संबंध हैं और दोनों देशों के बीच एक संधि हुई है। इस संधि के तहत दोनों देशों के नागरिक एक-दूसरे के देश में बिना पासपोर्ट (पारपत्र) और वीज़ा के आ-जा सकते हैं और काम कर सकते हैं। ख़ास संबंधों के बावजूद दोनों देश के बीच अतीत में व्यापार से संबंधित मनमुटाव पैदा हुए हैं। नेपाल की चीन के साथ दोस्ती को लेकर भारत सरकार ने अक्सर अपनी अप्रसन्नता जतायी है। नेपाल सरकार भारत-विरोधी तत्त्वों के खिलाफ कदम नहीं उठाती। इससे भी भारत नाखुश है। भारत की सुरक्षा एजेंसियाँ नेपाल में चल रहे माओवादी आंदोलन को अपनी सुरक्षा के लिए खतरा मानती हैं क्योंकि भारत में बिहार से लेकर आन्ध्र प्रदेश तक विभिन्न प्रांतों में नक्सलवादी समूहों का उभार हुआ है। नेपाल में बहुत से लोग यह सोचते हैं कि भारत की सरकार नेपाल के अंदरूनी मामलों में दखल दे रही है और उसके नदी जल तथा पनबिजली पर आँख गड़ाए हुए है। चारों तरफ से जमीन से घिरे नेपाल को लगता है कि भारत उसको अपने भूक्षेत्र से होकर समुद्र तक पहुँचने से रोकता है। बहरहाल भारत-नेपाल के संबंध एकदम मज़बूत और शांतिपूर्ण है। विभेदों के बावजूद दोनों देश व्यापार, वैज्ञानिक सहयोग, साझे प्राकृतिक संसाधन, बिजली उत्पादन और जल प्रबंधन ग्रिड के मसले पर एक साथ हैं। नेपाल में लोकतन्त्र की बहाली से दोनों देशों के बीच संबंधों के और मज़बूत होने की उम्मीद बंधी है।

श्रीलंका और भारत की सरकारों के संबंधों में तनाव इस द्वीप में ज़ारी जातीय संघर्ष को लेकर है। जब तमिल आबादी राजनीतिक रूप से नाखुश हो और उसे मारा जा रहा हो तो ऐसे में भारतीय नेताओं और जनता का तटस्थ बने

ऐसा क्यों है कि हर पड़ोसी देश को भारत से कुछ-न-कुछ परेशानी है? क्या हमारी विदेश नीति में कुछ गड़बड़ी है? या यह केवल हमारे बड़े होने के कारण है?

© NCERT not to be republished

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- कक्षा में सात समूह बनाएँ यानी दक्षिण एशिया में जितने देश हैं उतने समूह। हर समूह में आप छात्रों को अलग-अलग संख्या में रख सकते हैं ताकि दक्षिण एशिया के देशों के आकार को इंगित किया जा सके।
- प्रत्येक समूह को एक देश का नाम दें। समूह का नाम जिस देश के नाम पर रखें उस समूह को उक्त देश के कुछ तथ्यों की जानकारी दें। इसमें कुछ बुनियादी सूचनाएँ हों और दक्षिण एशिया के शेष देशों के साथ इस देश के मतभेद वाले मुद्दों/विवादों की संक्षिप्त चर्चा हो। इस अध्याय में जो मुद्दे बताये गए हैं उन्हें भी रखा जा सकता है। आप चाहें तो कोई और प्रासंगिक मुद्दा ले सकते हैं जिसकी चर्चा इस अध्याय में नहीं की गई है।
- छात्रों से कहें कि वे अपनी पसंद का कोई मुद्दा चुन लें। विवाद का यह मुद्दा द्विपक्षीय भी हो सकता है और बहुपक्षीय भी (मुद्दा भारत केंद्रित होगा। इसके कारण स्पष्ट हैं)।
- प्रत्येक समूह से कहें कि उनके देश की सरकार ने अतीत में विवादों के समाधान के लिए जो कदम उठाए हैं उसकी खोजबीन करें। छात्र यह भी बताएं कि विवाद के समाधान के प्रयास क्यों असफल हुए?
- प्रत्येक समूह के छात्र अपने देश की नुमाइंदगी करें और दूसरे समूह के साथ अपने निष्कर्षों को मिलायें।

अध्यापकों के लिए

- समान मसलों/विवादों वाले देशों को एक साथ रखें। मामला द्विपक्षीय हो तो दो समूह होंगे। अगर मामले बहुपक्षीय हैं तो ज्यादा समूह बनेंगे। (द्विपक्षीय मामलों के उदाहरण हैं – भारत और पाकिस्तान के बीच जम्मू-कश्मीर का मामला या भारत और बांग्लादेश के बीच आप्रवासियों का मामला। बहुपक्षीय मामले का उदाहरण है आतंकवाद या मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने से जुड़े मुद्दे)।
- समूहों को एक तय समय सीमा में समाधान के प्रस्तावों पर बातचीत करनी है। अध्यापक इस बातचीत के परिणाम को लिख लें। ध्यान इस बात पर रहे कि सहमति किस बिंदु पर बनी और असहमति किस बिंदु पर।
- दक्षिण एशिया के देशों में मौजूद स्थिति से बातचीत के इन परिणामों का मिलान करें। प्रदत्त तथ्यों के आधार पर किसी राजनीतिक मुद्दे पर बातचीत में जो कठिनाई आई हो उसकी चर्चा करें। शांतिपूर्ण सह अस्तित्व के लिए एक-दूसरे के हितों से तालमेल बैठाना ज़रूरी है – इस मसले पर चर्चा करके इस अभ्यास को समाप्त करें।

रहना असंभव लगता है। 1987 के सैन्य हस्तक्षेप के बाद से भारतीय सरकार श्रीलंका के अंदरूनी मामलों में असलंग्नता की नीति पर अमल कर रही है। भारत सरकार ने श्रीलंका के साथ एक मुक्त व्यापार समझौते पर दस्तखत किए हैं। इससे दोनों देशों के संबंध मज़बूत हुए हैं। श्रीलंका में 'सुनामी' से हुई तबाही के बाद के पुनर्निर्माण कार्यों में भारतीय मदद से भी दोनों देश एक दूसरे के करीब आए हैं।

भारत के भूटान के साथ भी बहुत अच्छे रिश्ते हैं और भूटानी सरकार के साथ कोई बड़ा झगड़ा नहीं है। भूटान से अपने काम का संचालन कर रहे पूर्वोत्तर भारत के उग्रवादियों और गुरिल्लों को भूटान ने अपने क्षेत्र से खदेड़ भगाया। भूटान के इस कदम से भारत को बड़ी मदद मिली है। भारत भूटान में पनबिजली की बड़ी परियोजनाओं में हाथ बँटा रहा है। इस हिमालयी देश के विकास कार्यों के लिए सबसे ज्यादा अनुदान भारत से हासिल होता है। मालदीव के साथ भारत के संबंध सौहार्दपूर्ण तथा गर्मजोशी से भरे हैं। 1988 में श्रीलंका से आए कुछ भाड़े के तमिल सैनिकों ने मालदीव पर हमला किया। मालदीव ने जब आक्रमण रोकने के लिए भारत से मदद माँगी तो भारतीय वायुसेना और नौसेना ने तुरंत कार्रवाई की। भारत ने मालदीव के आर्थिक विकास, पर्यटन और मत्स्य उद्योग में भी मदद की है।

आपने ध्यान दिया होगा कि दक्षिण एशिया के छोटे-छोटे पड़ोसियों के साथ भारत को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। भारत का आकार बड़ा है और वह शक्तिशाली है। इसकी वज़ह से अपेक्षाकृत छोटे देशों का भारत के इरादों को लेकर शक करना लाजिमी है। दूसरी तरफ, भारत सरकार को अक्सर महसूस होता है कि उसके पड़ोसी देश उसका

© NCERT not to be republished

बेज़ा फायदा उठा रहे हैं। भारत नहीं चाहता कि इन देशों में राजनीतिक अस्थिरता पैदा हो। उसे भय लगता है कि ऐसी स्थिति में बाहरी ताकतों को इस क्षेत्र में प्रभाव जमाने में मदद मिलेगी। छोटे देशों को लगता है कि भारत दक्षिण एशिया में अपना दबदबा कायम करना चाहता है।

दक्षिण एशिया के सारे झगड़े सिर्फ भारत और उसके पड़ोसी देशों के बीच ही नहीं है। नेपाल-भूटान तथा बांग्लादेश-म्यांमार के बीच जातीय मूल के नेपालियों के भूटान आप्रवास तथा रोहिंग्या लोगों के म्यांमार में आप्रवास के मसले पर मतभेद रहे हैं। बांग्लादेश और नेपाल के बीच हिमालयी नदियों के जल की हिस्सेदारी को लेकर खटपट है। यह बात सही है कि इस इलाके के सभी बड़े झगड़े भारत और उसके पड़ोसी देशों के बीच हैं। इसका एक कारण दक्षिण एशिया का भूगोल भी है जहाँ भारत बीच में स्थित है और बाकी देश भारत की सीमा के इर्द-गिर्द पड़ते हैं।

शांति और सहयोग

क्या दक्षिण एशिया के देश एक-दूसरे का सहयोग करते हैं या ये देश एक-दूसरे से सिर्फ़ लड़ते रहते हैं? अनेक संघर्षों के बावजूद दक्षिण एशिया के देश आपस में दोस्ताना रिश्ते तथा सहयोग के महत्त्व को पहचानते हैं। शांति के प्रयास द्विपक्षीय भी हुए हैं और क्षेत्रीय स्तर पर भी। दक्षेस (साउथ एशियन एसोशियन फॉर रिजनल कोऑपरेशन (SAARC) दक्षिण एशियाई देशों द्वारा बहुस्तरीय साधनों से आपस में सहयोग करने की दिशा में उठाया गया बड़ा कदम है। इसकी शुरुआत 1985 में हुई। दुर्भाग्य से विभेदों की मौजूदगी के कारण दक्षेस को ज्यादा सफलता नहीं मिली है। दक्षेस के सदस्य देशों ने सन् 2002 में 'दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार-क्षेत्र समझौते' (SAFTA) पर दस्तख़त किये। इसमें पूरे दक्षिण एशिया के लिए मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने का वायदा है।

यदि दक्षिण एशिया के सभी देश अपनी सीमारेखा के आर-पार मुक्त-व्यापार पर सहमत हो जाएँ तो इस क्षेत्र में शांति और सहयोग के एक नए अध्याय की शुरुआत हो सकती है। दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र समझौते (SAFTA) के पीछे यही भावना काम कर रही है। इस समझौते पर 2004 में हस्ताक्षर हुए और यह समझौता 1 जनवरी 2006 से प्रभावी हो गया। इस समझौते का लक्ष्य है कि इन देशों के बीच आपसी व्यापार में लगने वाले सीमा शुल्क को 2007 तक बीस प्रतिशत तक कम कर दिया जाए। कुछ छोटे देश मानते हैं कि 'साफ्टा' की ओट लेकर भारत उनके बाज़ार में

अगर अमरीका के बारे में लिखे गए अध्याय को 'अमरीकी वर्चस्व' का शीर्षक दिया गया तो इस अध्याय को भारतीय वर्चस्व क्यों नहीं कहा गया?

सुधीर, द हिंदू

यह कार्टून क्षेत्रीय सहयोग की प्रगति में भारत और पाकिस्तान की भूमिका के बारे में क्या बताता है?

© NCERT not to be republished

केशव, द हिंदू

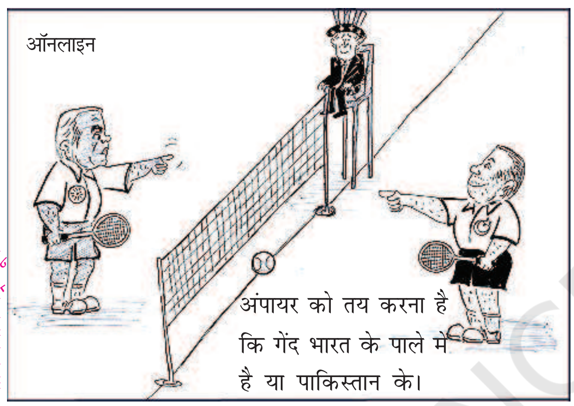

पाकिस्तान ट्रिब्यून

भारत और पाकिस्तान से लिए गए दो कार्टून इस क्षेत्र में दिलचस्पी रखने वाले दो बाहरी खिलाड़ियों की भूमिका की व्याख्या करते हैं। ये बाहरी खिलाड़ी कौन हैं? क्या आपको इन दोनों के दृष्टिकोण में कुछ समानता दिखाई देती है?

लगता है हर संगठन व्यापार के लिए ही बनता है? क्या व्यापार लोगों के आपसी मेलजोल से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है?

सेंध मारना चाहता है और व्यावसायिक उद्यम तथा व्यावसायिक मौजूदगी के जरिये उनके समाज और राजनीति पर असर डालना चाहता है। भारत सोचता है कि 'साफ्टा' से इस क्षेत्र के हर देश को फायदा होगा और क्षेत्र में मुक्त व्यापार बढ़ने से राजनीतिक मसलों पर सहयोग ज्यादा बेहतर होगा। भारत में कुछ लोगों का मानना है कि 'साफ्टा' के लिए परेशान होने की ज़रूरत नहीं क्योंकि भारत भूटान, नेपाल और श्रीलंका से पहले ही द्विपक्षीय व्यापार समझौता कर चुका है।

हालाँकि भारत और पाकिस्तान के संबंध कभी खत्म न होने वाले झगड़ों और हिंसा की एक कहानी जान पड़ते हैं फिर भी तनाव को कम करने और शांति बहाल करने के लिए इन देशों के बीच लगातार प्रयास हुए हैं। दोनों देश युद्ध के जोखिम कम करने के लिए विश्वास बहाली के उपाय करने पर सहमत हो गये हैं। सामाजिक कार्यकर्ता और महत्त्वपूर्ण हस्तियाँ दोनों देशों के लोगों के बीच दोस्ती का माहौल बनाने के लिए एकजुट हुई हैं। दोनों देशों के नेता एक-दूसरे को बेहतर ढंग से समझने और दोनों देशों के बीच मौजूद बड़ी समस्याओं के समाधान के लिए सम्मेलनों में भेंट करते हैं। पिछले पाँच वर्षों के दौरान दोनों देशों के पंजाब वाले हिस्से के बीच कई बस-मार्ग खुले हैं। अब वीज़ा आसानी से मिल जाते हैं।

कोई भी क्षेत्र हवा में नहीं होता। चाहे कोई क्षेत्र अपने को गैर इलाकाई ताकतों से अलग रखने की जितनी भी कोशिश करे उस पर बाहरी ताकतों और घटनाओं का असर पड़ता ही है। चीन और संयुक्त राज्य अमरीका दक्षिण एशिया की राजनीति में अहम भूमिका निभाते हैं। पिछले दस वर्षों में भारत और चीन के संबंध बेहतर हुए हैं। चीन की रणनीतिक साझेदारी पाकिस्तान के साथ है और यह भारत-चीन संबंधों में एक बड़ी कठिनाई है। विकास की ज़रूरत और वैश्वीकरण के कारण एशिया महादेश के ये दो बड़े देश ज्यादा नजदीक आये हैं। सन् 1991 के बाद से इनके आर्थिक संबंध ज़्यादा मज़बूत हुए हैं।

शीतयुद्ध के बाद दक्षिण एशिया में अमरीकी प्रभाव तेजी से बढ़ा है। अमरीका ने शीतयुद्ध के बाद भारत और पाकिस्तान दोनों से अपने संबंध बेहतर किए हैं। वह भारत-पाक के बीच लगातार मध्यस्थ की भूमिका निभा रहा है। दोनों देशों में आर्थिक सुधार हुए हैं और उदार नीतियाँ अपनाई गई हैं। इससे दक्षिण एशिया में

© NCERT not to be republished

अमरीकी भागीदारी ज़्यादा गहरी हुई है। अमरीका में दक्षिण एशियाई मूल के लोगों की संख्या अच्छी-खासी है। फिर, इस क्षेत्र की जनसंख्या और बाजार का आकार भी भारी भरकम है। इस कारण इस क्षेत्र की सुरक्षा और शांति के भविष्य से अमरीका के हित भी बंधे हुए हैं।

बहरहाल, दक्षिण एशिया को संघर्षों की आशंका वाले क्षेत्र के रूप में पहचाना जाता रहेगा अथवा यह एक ऐसे क्षेत्रीय गुट के रूप में उभरेगा जिसके सांस्कृतिक गुण-धर्म तथा व्यापारिक हित एक हैं – यह बात किसी बाहरी शक्ति से ज्यादा यहाँ के लोगों और सरकारों पर निर्भर है।

प्रश्नावली

1. देशों की पहचान करें –
   (क) राजतंत्र, लोकतंत्र-समर्थक समूहों और अतिवादियों के बीच संघर्ष के कारण राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण बना।
   (ख) चारों तरफ भूमि से घिरा देश।
   (ग) दक्षिण एशिया का वह देश जिसने सबसे पहले अपनी अर्थव्यवस्था का उदारीकरण किया।
   (घ) सेना और लोकतंत्र-समर्थक समूहों के बीच संघर्ष में सेना ने लोकतंत्र के ऊपर बाज़ी मारी।
   (ङ) दक्षिण एशिया के केंद्र में अवस्थित। इस देश की सीमाएँ दक्षिण एशिया के अधिकांश देशों से मिलती हैं।
   (च) पहले इस द्वीप में शासन की बागडोर सुल्तान के हाथ में थी। अब यह एक गणतंत्र है।
   (छ) ग्रामीण क्षेत्र में छोटी बचत और सहकारी ऋण की व्यवस्था के कारण इस देश को ग़रीबी कम करने में मदद मिली है।
   (ज) एक हिमालयी देश जहाँ संवैधानिक राजतंत्र है। यह देश भी हर तरफ से भूमि से घिरा है।
2. दक्षिण एशिया के बारे में निम्नलिखित में से कौन-सा कथन ग़लत है?
   (क) दक्षिण एशिया में सिर्फ़ एक तरह की राजनीतिक प्रणाली चलती है।
   (ख) बांग्लादेश और भारत ने नदी-जल की हिस्सेदारी के बारे में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए हैं।
   (ग) 'साफ्टा' पर हस्ताक्षर इस्लामाबाद के 12वें सार्क-सम्मेलन में हुए।
   (घ) दक्षिण एशिया की राजनीति में चीन और संयुक्त राज्य अमरीका महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
3. पाकिस्तान के लोकतंत्रीकरण में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ हैं?
4. नेपाल के लोग अपने देश में लोकतंत्र को बहाल करने में कैसे सफल हुए?
5. श्रीलंका के जातीय-संघर्ष में किनकी भूमिका प्रमुख है?
6. भारत और पाकिस्तान के बीच हाल में क्या समझौते हुए?
7. ऐसे दो मसलों के नाम बताएँ जिन पर भारत-बांग्लादेश के बीच आपसी सहयोग है और इसी तरह दो ऐसे मसलों के नाम बताएँ जिन पर असहमति है।
8. दक्षिण एशिया में द्विपक्षीय संबंधों को बाहरी शक्तियाँ कैसे प्रभावित करती हैं?

© NCERT not to be republished

प्रश्नावली

9. दक्षिण एशिया के देशों के बीच आर्थिक सहयोग की राह तैयार करने में दक्षेस (सार्क) की भूमिका और सीमाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें। दक्षिण एशिया की बेहतरी में 'दक्षेस' (सार्क) ज्यादा बड़ी भूमिका निभा सके, इसके लिए आप क्या सुझाव देंगे?

10. दक्षिण एशिया के देश एक-दूसरे पर अविश्वास करते हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर यह क्षेत्र एकजुट होकर अपना प्रभाव नहीं जमा पाता। इस कथन की पुष्टि में कोई भी दो उदाहरण दें और दक्षिण एशिया को मजबूत बनाने के लिए उपाय सुझाएँ।

11. दक्षिण एशिया के देश भारत को एक बाहुबली समझते हैं जो इस क्षेत्र के छोटे देशों पर अपना दबदबा जमाना चाहता है और उनके अंदरूनी मामलों में दखल देता है। इन देशों की ऐसी सोच के लिए कौन-कौन सी बातें जिम्मेदार हैं?

© NCERT not to be republished

अध्याय 6

अंतर्राष्ट्रीय संगठन

परिचय

इस अध्याय में हम सोवियत संघ के बिखरने के बाद अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका के बारे में पढ़ेंगे। हम देखेंगे कि एक उभरते हुए विश्व में नयी चुनौतियों का सामना करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के पुनर्निर्माण की बातें हो रही थीं। इन्हीं चुनौतियों में एक थी अमरीका की शक्ति का बढ़ना। सुधार की प्रक्रियाओं और उनकी कठिनाइयों की एक मिसाल संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् में होने वाला बदलाव है। संयुक्त राष्ट्रसंघ से भारत का जुड़ाव और सुरक्षा परिषद् के सुधारों को लेकर उसका विशेष दृष्टिकोण अपने आप में जानकारी का एक अहम विषय है। इस अध्याय का अंत इस सवाल से किया गया है कि क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसे विश्व में कोई भूमिका निभा सकता है जिसमें किसी एक महाशक्ति का दबदबा हो। इस अध्याय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले कुछ अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भी चर्चा की गई है।

यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रतीक चिह्न है। इसमें दुनिया का नक़्शा बना हुआ है और इसके चारों तरफ जैतून की पत्तियाँ हैं। ये पत्तियाँ विश्व शांति का संकेत करती हैं। www.un.org से साभार

हैरी हैरिसन, केगल्स कार्टून

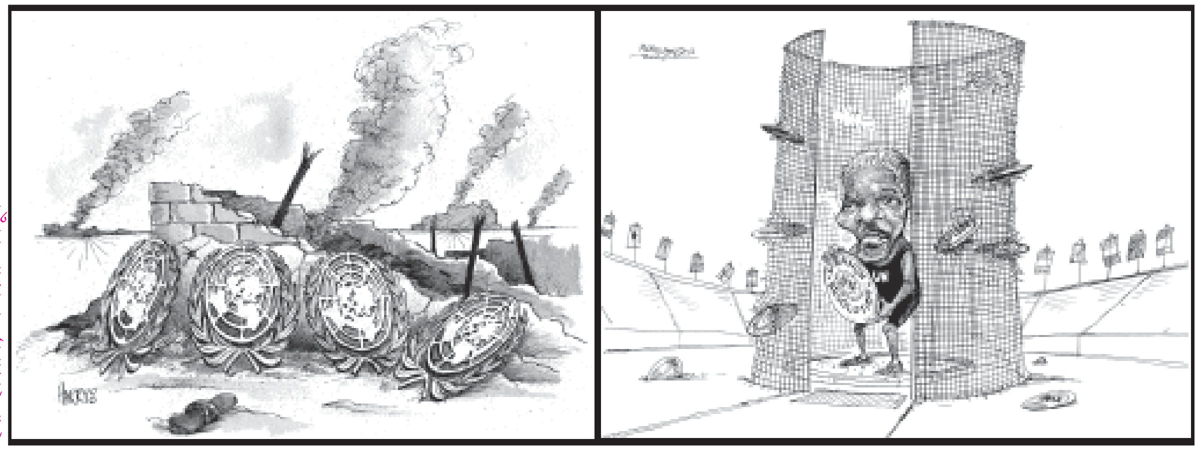

पीटर निसमेस्त्रोविच, केगल्स कार्टून

जून 2006 के दौरान इजराइल ने लेबनान पर हमला किया। उसका कहना था कि उग्रवादी गुट हिज़्बुल्लाह पर नियंत्रण करने के लिए हमला ज़रूरी है। भारी संख्या में आम नागरिक मारे गए। कई सार्वजनिक इमारत और रिहायशी इलाके इजराइली बमबारी की चपेट में आए। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस मामले पर एक प्रस्ताव बहुत बाद यानी अगस्त में पास किया और इजराइली सेना इस इलाके से अक्टूबर में ही वापस हो सकी। ये दोनों कार्टून इस संकट में संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसके महासचिव की भूमिका पर टिप्पणी करते हैं।

यही बात तो वे संसद के बारे में कहते हैं। क्या हमें बतकही की ऐसी चौपालें वास्तव में चाहिए?

हमें अंतर्राष्ट्रीय संगठन क्यों चाहिए?

एक ओर इस तरह के कार्टून और टिप्पणियाँ हैं तो दूसरी ओर हम पाते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को आज की दुनिया का सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संगठन माना जाता है। अमूमन 'यू एन' कहे जाने वाले इस संगठन को विश्व भर के बहुत-से लोग एक अनिवार्य संगठन मानते हैं। यह संगठन उनकी नज़र में शांति और प्रगति के प्रति मानवता की आशा का प्रतीक है। हमें संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे संगठनों की ज़रूरत क्यों है? आइए, यहाँ ऐसे दो लोगों के विचार पढ़ते हैं जिन्हें इस संगठन के कामकाज की अंदरुनी जानकारी है –

''संयुक्त राष्ट्रसंघ का गठन मानवता को स्वर्ग पहुँचाने के लिए नहीं बल्कि उसे नरक से बचाने के लिए हुआ है।''

– डेग हैमरसोल्ड; संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे महासचिव

''बतकही की चौपाल, ठीक कहा आपने! संयुक्त राष्ट्रसंघ में खूब बैठकें होती हैं, दनादन भाषण होते हैं – ख़ासकर आम सभा के वार्षिक सत्र में। लेकिन, जैसा कि चर्चिल कहते थे, हथियार लड़ाने से बढ़िया है कि ज़बान लड़ाई जाए। क्या यह बात बेहतर नहीं कि एक ऐसी जगह भी हो जहाँ दुनिया के सारे देश इकट्ठे हों और कभी-कभार अपनी बातों से एक-दूसरे का सर खाएँ, बनिस्पत लड़ाई के मैदान में एक-दूसरे का सर कलम करने के?''

– शशि थरूर; संयुक्त राष्ट्रसंघ में सार्वजनिक सूचना और संचार के पूर्व अवर सचिव।

ये दो उद्धरण एक महत्त्वपूर्ण बात की तरफ इशारा करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय संगठन हर मर्ज़ की दवा नहीं लेकिन वे महत्त्वपूर्ण ज़रूर हैं। अंतर्राष्ट्रीय संगठन युद्ध और शांति के मामलों में मदद करते हैं। वे देशों की सहायता करते हैं ताकि हम सब की बेहतर जीवन-स्थितियाँ कायम हों।

देशों के बीच मनमुटाव और झगड़े होते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि अपने वैर-विरोध के कारण वे एक-दूसरे से युद्ध ठान लें। इसकी जगह वे विभेद के मसलों पर बातचीत कर सकते हैं और उसका एक

शांतिपूर्ण समाधान ढूँढ़ सकते हैं। वस्तुतः अधिकांश झगड़ों और विभेदों का समाधान बिना युद्ध के ही किया जाता है, लेकिन यह एक ऐसा तथ्य है जिस पर कम ध्यान जाता है। इस संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अंतर्राष्ट्रीय संगठन कोई शक्तिशाली राज्य नहीं होता जिसकी अपने सदस्यों पर धौंस चलती हो। अंतर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण विभिन्न राज्य ही करते हैं और यह उनके मामलों के लिए जवाबदेह होता है। जब राज्यों में इस बात पर सहमति होती है कि कोई अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनना चाहिए, तभी ऐसे संगठन कायम होते हैं। एक बार इनका निर्माण हो जाए तो ये समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान में सदस्य देशों की मदद करते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संगठन एक और तरीके से मददगार होते हैं। राष्ट्रों के सामने अक्सर कुछ काम ऐसे आ जाते हैं जिन्हें साथ मिलकर ही करना होता है। कुछ मसले इतने चुनौतीपूर्ण होते हैं कि उनसे तभी निपटा जा सकता है जब सभी साथ मिलकर काम करें। इसकी एक मिसाल तो बीमारी ही है। कुछ रोगों को तब ही खत्म किया जा सकता है जब विश्व का हर देश अपनी आबादी को टीके लगाने में सहयोग करे। हम 'ग्लोबल वार्मिंग' (विश्वव्यापी तापवृद्धि) और उसके प्रभावों का ही उदाहरण लें। वातावरण का तापमान क्लोरोफ्लोरो कार्बन कहलाने वाले कुछ रसायनों के फैलाव के कारण बढ़ रहा है। इससे समुद्रतल की ऊँचाई बढ़ने का ख़तरा है। अगर ऐसा हुआ तो विश्व के समुद्रतटीय इलाके जिसमें बड़े-बड़े शहर भी शामिल हैं, डूब जाएंगे। हर देश अपने-अपने तरीके से 'ग्लोबल वार्मिंग' के दुष्प्रभावों का समाधान ढूँढ़ सकता है। तब भी अंततः सबसे प्रभावकारी समाधान तो यही है कि वैश्विक तापवृद्धि को रोका जाए। इसके लिए विश्व के बड़े औद्योगिक देशों का सहयोग करना ज़रुरी है।

दुर्भाग्य से, सहयोग की ज़रूरत को पहचानना और सचमुच में सहयोग करना दो अलग-अलग बातें हैं। देश सहयोग करने की ज़रूरत को पहचान सकते हैं लेकिन सहयोग का सबसे बेहतर तरीका क्या हो – इस पर हमेशा उनके बीच सहमति नहीं हो सकती। सहयोग में आने वाली लागत का भार कौन कितना उठाए, सहयोग से होने वाले लाभ का आपसी बँटवारा न्यायोचित ढंग से कैसे हो, मोल-तोल के बाद जो तय हो जाए उससे कोई मुकरे नहीं और आपसी समझौते के बाद

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

शीतयुद्ध के बाद के समय में कुछ संगठनों ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, खासकर विश्व की अर्थव्यवस्था के संदर्भ में। इनमें से एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (इंटरनेशनल मॉनेटरी फंड-IMF) है। यह संगठन वैश्विक स्तर की वित्त-व्यवस्था की देखरेख करता है और माँगे जाने पर वित्तीय तथा तकनीकी सहायता मुहैया करता है। वैश्विक वित्त-व्यवस्था (ग्लोबल फाइनेंशियल सिस्टम - GFS) का आशय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर काम करने वाली वित्तीय संस्थाओं और लागू होने वाले नियमों से है। 188 देश अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हैं लेकिन हर सदस्य की राय का वजन बराबर नहीं है। अग्रणी दस सदस्यों के पास 52 प्रतिशत से अधिक मत हैं। ये देश हैं – समूह-8 के सदस्य (अमरीका, जापान, जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली कनाडा और रूस) तथा चीन और सऊदी अरब। अकेले अमरीका के पास 16.75 प्रतिशत मताधिकार हैं।

खुद करें, खुद सीखें

ऐसे मुद्दों और समस्याओं की एक सूची बनाइए जिन्हें सुलझाना किसी एक देश के लिए संभव नहीं है और जिनके लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की ज़रूरत है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना

अगस्त 1941	: अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ब्रितानी प्रधानमंत्री चर्चिल द्वारा अटलांटिक चार्टर पर हस्ताक्षर किए गए।
जनवरी 1942	: धुरी शक्तियों के खिलाफ लड़ रहे 26 मित्र-राष्ट्र अटलांटिक चार्टर के समर्थन में वाशिंगटन में मिले और दिसंबर 1943 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा पर हस्ताक्षर हुए।
फरवरी 1945	: तीन बड़े नेताओं (रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन) ने याल्टा सम्मेलन में प्रस्तावित अंतर्राष्ट्रीय संगठन के बारे में संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक सम्मेलन करने का निर्णय किया।
अप्रैल-मई 1945	: सेन फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रसंघ का अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाने के मसले पर केंद्रित दो महीने लंबा सम्मेलन संपन्न।
26 जून 1945	: संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर पर 50 देशों के हस्ताक्षर। पोलैंड ने 15 अक्टूबर को हस्ताक्षर किए। इस तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ में 51 मूल संस्थापक सदस्य हैं।
24 अक्टूबर 1945	: संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना। 24 अक्टूबर संयुक्त राष्ट्रसंघ दिवस।
30 अक्टूबर 1945	: भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ में शामिल।

जो बातें तय हुई हैं उनसे कोई भी दग़ा न करे– इन बिंदुओं पर सभी देश हमेशा सहमत नहीं होते। एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन सहयोग करने के उपाय और सूचनाएँ जुटाने में मदद कर सकता है। ऐसा संगठन नियमों और नौकरशाही की एक रूपरेखा दे सकता है ताकि सदस्यों को यह विश्वास हो कि आने वाली लागत में सबकी समुचित साझेदारी होगी, लाभ का बँटवारा न्यायोचित होगा और कोई सदस्य एक बार समझौते में शामिल हो जाता है तो वह इस समझौते के नियम और शर्तों का पालन करेगा।

शीतयुद्ध के अंत के बाद अब संयुक्त राष्ट्रसंघ थोड़ी अलग भूमिका निभा सकता है – हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं। अमरीका और उसके खेमे के देश विजेता बनकर उभरे हैं। ऐसे में बहुत से लोगों और सरकारों को इस बात की चिंता सता रही है कि अमरीका की अगुआई में पश्चिमी देश इतने ताकतवर हो जाएँगे कि उनकी इच्छाओं-आकांक्षाओं पर लगाम कसना असंभव होगा। क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ अमरीका के साथ संवाद और चर्चा में मददगार हो सकता है और क्या यह संगठन अमरीकी सरकार की ताकत पर अंकुश लगा सकता है? हम इन सवालों के उत्तर अध्याय के अंत में खोजेंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का विकास

पहले विश्वयुद्ध ने दुनिया को इस बात के लिए जगाया कि झगड़ों के निपटारे के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का प्रयास ज़रूर किया जाना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप 'लीग ऑव नेशंस' का जन्म हुआ। शुरुआती सफलताओं के बावजूद यह संगठन दूसरा विश्वयुद्ध (1939-45) न रोक सका। पहले

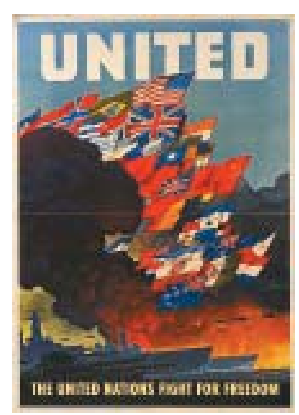

1942 की संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा के आधार पर दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान (1943 में) अमरीका के युद्ध सूचना विभाग (यूनाइटेड स्टेट्स ऑफिस ऑव वार इंफॉरमेशन) द्वारा तैयार किया गया पोस्टर। इस पोस्टर में उन देशों के झंडों को देखा जा सकता है जिन्होंने मित्र राष्ट्रों के युद्धक प्रयासों के समर्थन करने का संकल्प किया था। यह पोस्टर एक अर्थ में महत्त्वपूर्ण है। यह दिखाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की जड़ें युद्ध में थीं।

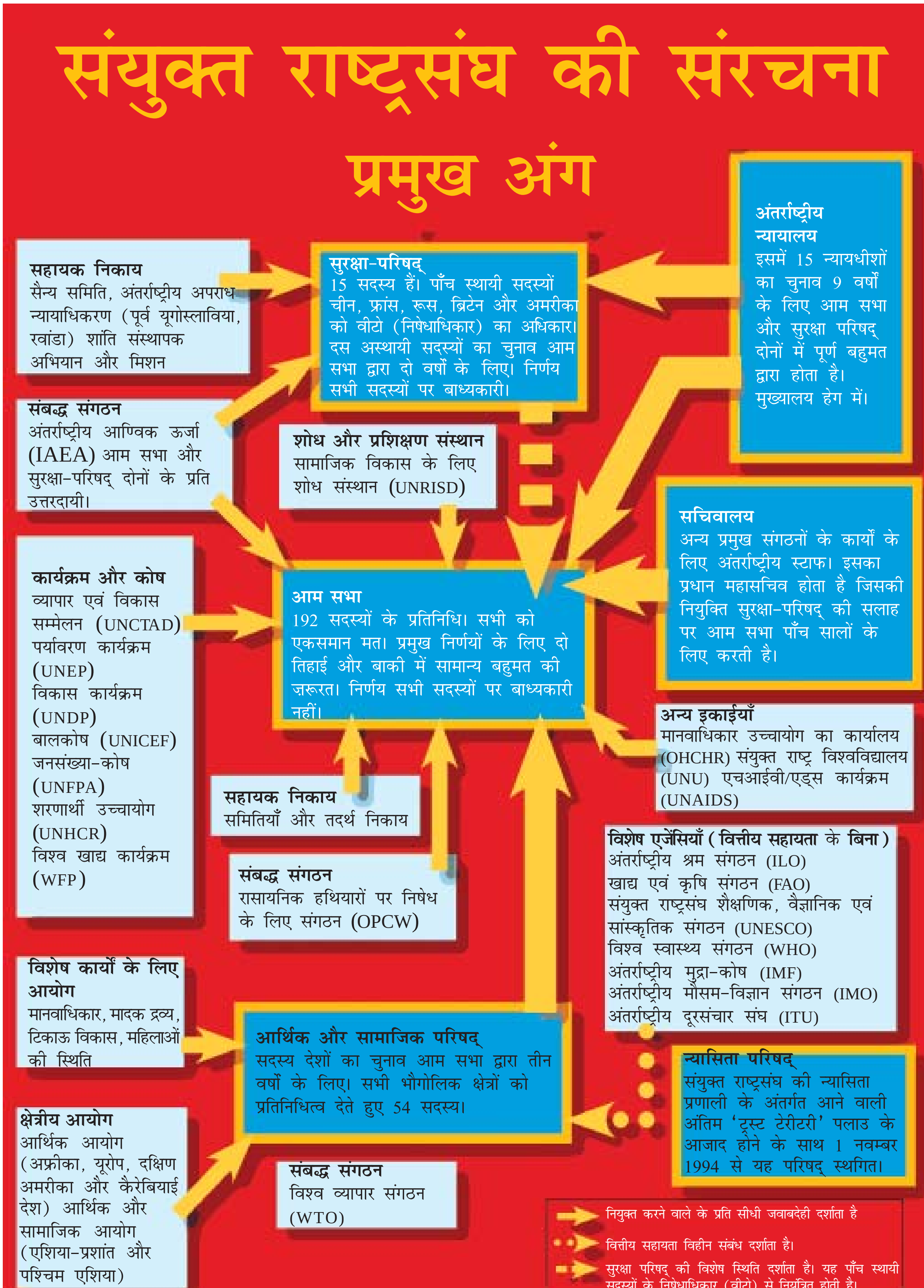

http://www.newint.org/issue375/pics/un-map-big.gif पर आधारित

खुद करें, खुद सीखें

संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनेक एजेंसियों का यहाँ जिक्र किया गया है। हरेक एजेंसी की गतिविधियों के बारे में एक समाचार खोजें।

की तुलना में इस महायुद्ध में कहीं ज़्यादा लोग मारे गये और घायल हुए।

'लीग ऑव नेशंस' के उत्तराधिकारी के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद सन् 1945 में इसे स्थापित किया गया। 51 देशों द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र पर दस्तख़त करने के साथ इस संगठन की स्थापना हो गई। दो विश्वयुद्धों के बीच 'लीग ऑव नेशंस' जो नहीं कर पाया था उसे कर दिखाने की कोशिश संयुक्त राष्ट्रसंघ ने की। संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य है अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों को रोकना और राष्ट्रों के बीच सहयोग की राह दिखाना। इसकी स्थापना के पीछे यह आशा काम कर रही थी कि यह संगठन विभिन्न देशों के बीच जारी ऐसे झगड़ों को रोकने का काम करेगा जो आगे चलकर युद्ध का रूप ले सकते हैं और अगर युद्ध छिड़ ही जाए तो शत्रुता के दायरे को सीमित करने का काम करेगा। इसके अलावा, चूँकि झगड़े अक्सर सामाजिक-आर्थिक विकास के अभाव में खड़े होते हैं इसलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक मंशा पूरे विश्व में सामाजिक-आर्थिक विकास की संभावनाओं को बढ़ाने के लिए विभिन्न देशों को एक साथ लाने की है।

2006 तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों की संख्या 192 थी। इसमें लगभग सभी स्वतंत्र देश शामिल हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा में हरेक सदस्य को एक वोट हासिल है। इसकी सुरक्षा परिषद् में पाँच स्थायी सदस्य हैं। इनके नाम हैं – अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन। दूसरे विश्वयुद्ध के तुरंत बाद के समय में ये देश सबसे ज़्यादा ताकतवर थे और इस महायुद्ध के विजेता भी रहे, इसलिए इन्हें स्थायी सदस्य के रूप में चुना गया।

शीतयुद्ध हो या न हो, एक सुधार तो सबसे पहले ज़रूरी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में केवल लोकतांत्रिक नेताओं को ही अपने देश की नुमाइंदगी करने का हक होना चाहिए। आखिर किसी तानाशाह को देश की जनता की ओर से बोलने की अनुमति कैसे दी जा सकती है?

संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे अधिक दिखने वाला सार्वजनिक चेहरा और उसका प्रधान प्रतिनिधि महासचिव होता है। वर्तमान महासचिव द. कोरिया के बान की मून हैं। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के आठवें महासचिव हैं। उन्होंने महासचिव का पद एक जनवरी 2007 को संभाला। 1971 के बाद, इस पद पर बैठने वाले वे पहले एशियाई हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की कई शाखाएँ और एजेंसियाँ हैं। सदस्य देशों के बीच युद्ध और शांति तथा वैर-विरोध पर आम सभा में भी चर्चा होती है और सुरक्षा परिषद् में भी। सामाजिक और आर्थिक मुद्दों से निबटने के लिए कई एजेंसियाँ हैं जिनमें विश्व स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन- WHO), संयुक्त राष्ट्रसंघ विकास कार्यक्रम (यूनाइटेड नेशंस डेवलपमेंट प्रोग्राम-UNDP), संयुक्त राष्ट्रसंघ मानवाधिकार आयोग (यूनाइटेड नेशंस ह्यूमन राइट्स कमिशन – UNHRC), संयुक्त राष्ट्रसंघ शरणार्थी उच्चायोग (यूनाइटेड नेशंस हाई कमिशन फॉर रिफ्यूजीज – UNHCR), संयुक्त राष्ट्रसंघ बाल कोष (यूनाइटेड नेशंस चिल्ड्रेन्स फंड- UNICEF) और संयुक्त राष्ट्रसंघ शैक्षिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनाइटेड नेशंस एजुकेशनल, सोशल एंड कल्चरल आर्गनाइजेशन – UNESCO) शामिल हैं।

शीतयुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुधार

बदलते परिवेश में ज़रूरतों को पूरा करने के लिए किसी भी संगठन में सुधार और विकास करना लाज़िमी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी इसका अपवाद नहीं है। हाल के वर्षों में इस वैश्विक संस्था में सुधार की माँग करते हुए आवाजें उठी हैं। बहरहाल, सुधारों की प्रकृति

के बारे में कोई स्पष्ट राय और सहमति नहीं बन पायी है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने दो तरह के बुनियादी सुधारों का मसला है। एक तो यह कि इस संगठन की बनावट और इसकी प्रक्रियाओं में सुधार किया जाए। दूसरे, इस संगठन के न्यायाधिकार में आने वाले मुद्दों की समीक्षा की जाए। लगभग सभी देश सहमत हैं कि दोनों ही तरह के ये सुधार ज़रुरी हैं। देशों के बीच में सहमति इस बात पर नहीं है कि इसके लिए दरअसल ठीक करना क्या है, कैसे करना है और कब करना है?

बनावट और प्रक्रियाओं में सुधार के अंतर्गत सबसे बड़ी बहस सुरक्षा परिषद् के कामकाज को लेकर है। इससे जुड़ी हुई एक माँग यह है कि सुरक्षा परिषद् में स्थायी और अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ायी जाए ताकि समकालीन विश्व राजनीति की वास्तविकताओं की इस संगठन में बेहतर नुमाइंदगी हो सके। ख़ास तौर से एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के ज़्यादा देशों को सुरक्षा-परिषद् में सदस्यता देने की बात उठ रही है। इसके अतिरिक्त, अमरीका और पश्चिमी देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट से जुड़ी प्रक्रियाओं और इसके प्रशासन में सुधार चाहते हैं।

जहाँ तक संयुक्त राष्ट्रसंघ में किन्हीं मुद्दों को ज़्यादा प्राथमिकता देने अथवा उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यायाधिकार में लाने का सवाल है तो कुछ देश और विशेषज्ञ चाहते हैं कि यह संगठन शांति और सुरक्षा से जुड़े मिशनों में ज़्यादा प्रभावकारी अथवा बड़ी भूमिका निभाए जबकि औरों की इच्छा है कि यह संगठन अपने को विकास तथा मानवीय भलाई के कामों (स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण, जनसंख्या नियंत्रण, मानवाधिकार, लिंगगत न्याय और सामाजिक न्याय) तक सीमित रखे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव

ट्राइग्व ली (1946-1952) नार्वे; वकील और विदेश मंत्री; कश्मीर को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच हुई लड़ाई में युद्धविराम के लिए प्रयास; कोरिया-युद्ध को शीघ्र समाप्त करवाने में नाकामयाब रहने पर आलोचना; दोबारा महासचिव बनाने का सोवियत संघ ने विरोध किया। महासचिव के पद से त्यागपत्र।

डेग हैमरशोल्ड (1953-1961) स्वीडन; अर्थशास्त्री और वकील; स्वेज नहर से जुड़े विवाद को सुलझाने और अफ्रीका के अनौपनिवेशीकरण के लिए काम किया। कांगो-संकट को सुलझाने की दिशा में किए गए प्रयासों के लिए मरणोपरांत नोबेल शांति पुरस्कार। सोवियत संघ और फ्रांस ने अफ्रीका में इनकी भूमिका की आलोचना की।

यू थांट (1961-1971); बर्मा (म्यांमार) शिक्षक और राजनयिक; क्यूबा के मिसाइल-संकट के समाधान और कांगो के संकट की समाप्ति के लिए प्रयास किए। साइप्रस में संयुक्त राष्ट्रसंघ की शांतिसेना बहाल की। वियतनाम युद्ध के दौरान अमरीका की आलोचना की।

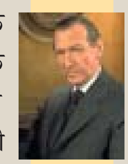

कुर्त वाल्डहीम (1972-1981); ऑस्ट्रिया; कूटनयिक और विदेशमंत्री। नामीबिया और लेबनॉन की समस्याओं के समाधान के प्रयास किए। बांग्लादेश में राहत-अभियान की देख-रेख। तीसरी बार महासचिव पद पर चुने जाने की दावेदारी का चीन ने विरोध किया।

जेवियर पेरेज द कूइयार (1982-1991) पेरु; वकील और राजनयिक; साइप्रस, अफगानिस्तान और अल सल्वाडोर में शांति-स्थापना के लिए प्रयास किए। नामीबिया की आज़ादी के लिए मध्यस्थता। फॉकलैंड युद्ध के बाद ब्रिटेन और अर्जेंटीना के बीच मध्यस्थता।

बुतरस बुतरस घाली (1992-1996) मिस्र; राजनयिक, विधि वेत्ता और विदेशमंत्री; 'एन अजेंडा फॉर पीस' नामक रिपोर्ट जारी की। मोजांबिक में संयुक्त राष्ट्रसंघ का सफल अभियान चलाया। बोस्निया, सोमालिया और रवांडा में संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलताओं के लिए आरोप लगे। गंभीर असहमतियों के कारण अमरीका ने दुबारा महासचिव बनने का विरोध किया।

कोफी ए. अन्नान (1997-2006) घाना; संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकारी; एड्स, टीबी और मलेरिया से लड़ने के लिए एक वैश्विक कोष बनाया। अमरीकी नेतृत्व में इराक पर हुए हमले को अवैध करार दिया। 2005 में मानवाधिकार परिषद् तथा शांति संस्थापक आयोग की स्थापना की। 2001 का नोबेल शांति पुरस्कार मिला।

चित्र www.un.org से साभार

संयुक्त राष्ट्रसंघ के 60 साल – नवीनीकरण का समय

स्रोत: *www.un.org*

आइए, हम दोनों ही किस्म के सुधारों पर नज़र दौड़ाएँ। इस चर्चा में हम ज़्यादा जोर ढाँचागत और प्रक्रियागत सुधारों पर देंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना दूसरे विश्वयुद्ध के तत्काल बाद सन् 1945 में हुई थी। इस महायुद्ध के बाद विश्व राजनीति की जो सच्चाइयाँ थीं उसी के अनुरूप इसका गठन हुआ और इसके कामकाज से तत्कालीन विश्व राजनीति की वास्तविकताएँ झलकती थीं। शीतयुद्ध के बाद ये सच्चाइयाँ बदल गई हैं। 1991 से आए बदलावों में से कुछ निम्नलिखित हैं –

- सोवियत संघ बिखर गया।
- अमरीका सबसे ज़्यादा ताकतवर है।
- सोवियत संघ के उत्तराधिकारी राज्य रूस और अमरीका के बीच अब संबंध कहीं ज़्यादा सहयोगात्मक हैं।
- चीन बड़ी तेजी से एक महाशक्ति के रूप में उभर रहा है; भारत भी तेजी से इस दिशा में अग्रसर है।
- एशिया की अर्थव्यवस्था अप्रत्याशित दर से तरक्की कर रही है।
- अनेक नए देश संयुक्त राष्ट्रसंघ में शामिल हुए हैं (ये देश सोवियत संघ से आज़ाद हुए देश हैं अथवा पूर्वी यूरोप के भूतपूर्व साम्यवादी देश हैं)।
- विश्व के सामने चुनौतियों की एक पूरी नयी कड़ी (जनसंहार, गृहयुद्ध, जातीय संघर्ष, आतंकवाद, परमाण्विक प्रसार, जलवायु में बदलाव, पर्यावरण की हानि, महामारी) मौजूद है।

ऐसी दशा में जब शीतयुद्ध का अंत (1989) हो रहा था तो विश्व के सामने सवाल था कि क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ का होना पर्याप्त है? जो कुछ करना ज़रुरी है क्या उसे करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ सक्षम है? इसे क्या करना चाहिए और कैसे करना चाहिए? संयुक्त राष्ट्रसंघ बेहतर ढंग से काम कर सके इसके लिए कौन-से सुधार ज़रुरी हैं? पिछले पंद्रह सालों से इसके सदस्य देश इन प्रश्नों के व्यावहारिक और संतोषजनक उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

प्रक्रियाओं और ढाँचे में सुधार

सुधार होने चाहिए – इस सवाल पर व्यापक सहमति है लेकिन सुधार कैसे किया जाए का मसला कठिन है। इस पर सहमति कायम करना मुश्किल है। यहाँ हम संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् में सुधार पर जारी बहस की थोड़ी चर्चा करेंगे। सन् 1992 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। प्रस्ताव में तीन मुख्य शिकायतों का जिक्र था –

- सुरक्षा परिषद् अब राजनीतिक वास्तविकताओं की नुमाइंदगी नहीं करती।
- इसके फ़ैसलों पर पश्चिमी मूल्यों और हितों की छाप होती है और इन फ़ैसलों पर चंद देशों का दबदबा होता है।
- सुरक्षा परिषद् में बराबर का प्रतिनिधित्व नहीं है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के ढाँचे में बदलाव की इन बढ़ती हुई माँगों के मद्देनज़र एक

जनवरी 1997 को संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव कोफी अन्नान ने जाँच शुरू करवाई कि सुधार कैसे कराए जाएँ। मिसाल के तौर पर यही कि क्या सुरक्षा परिषद् के नए सदस्य चुने जाने चाहिए?

इसके बाद के सालों में सुरक्षा परिषद् की स्थायी और अस्थायी सदस्यता के लिए मानदंड सुझाए गए। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं। सुझाव आए कि एक नए सदस्य को –

- बड़ी आर्थिक ताकत होना चाहिए।
- बड़ी सैन्य ताकत होना चाहिए।
- संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट में ऐसे देश का योगदान ज़्यादा हो।
- आबादी के लिहाज से बड़ा राष्ट्र हो।
- ऐसा देश जो लोकतंत्र और मानवाधिकारों का सम्मान करता हो।
- यह देश ऐसा हो कि अपने भूगोल, अर्थव्यवस्था और संस्कृति के लिहाज से विश्व की विविधता की नुमाइंदगी करता हो।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सालाना बजट में सर्वाधिक योगदान करने वाले दस देश

स्रोत: *www.un.org*

विश्व बैंक

दूसरे विश्वयुद्ध के तुरंत बाद सन् 1945 में विश्व बैंक की औपचारिक स्थापना हुई। इस बैंक की गतिविधियाँ प्रमुख रूप से विकासशील देशों से संबंधित हैं। यह बैंक मानवीय विकास (शिक्षा, स्वास्थ्य), कृषि और ग्रामीण विकास (सिंचाई, ग्रामीण सेवाएँ), पर्यावरण सुरक्षा (प्रदूषण में कमी, नियमों का निर्माण और उन्हें लागू करना), आधारभूत ढाँचा (सड़क, शहरी विकास, बिजली) तथा सुशासन (कदाचार का विरोध, विधिक संस्थाओं का विकास) के लिए काम करता है। यह अपने सदस्य-देशों को आसान ऋण और अनुदान देता है। ज्यादा गरीब देशों को ये अनुदान वापिस नहीं चुकाने पड़ते। इस अर्थ में यह संस्था समकालीन वैश्विक अर्थ-व्यवस्था को भी प्रभावित करती है।

स्पष्ट है कि इन मानदंडों में से हर एक की कुछ न कुछ वैधता है। सरकारें अपने-अपने हित और महत्त्वाकांक्षाओं के लिहाज से कुछ कसौटियों को फायदेमंद तो कुछ को नुकसानदेह मानती हैं। भले ही कोई देश सुरक्षा परिषद् की सदस्यता के लिए इच्छुक न हो, वह फिर भी बता सकता है कि इन कसौटियों में दिक्कत है। सुरक्षा परिषद् की सदस्यता के लिए किसी देश की अर्थव्यवस्था कितनी बड़ी होनी चाहिए अथवा उसके पास कितनी बड़ी सैन्य-ताकत होनी चाहिए? कोई राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट में कितना योगदान करे कि सुरक्षा परिषद् की सदस्यता हासिल कर सके? कोई देश विश्व में बड़ी भूमिका निभाने की कोशिश कर रहा हो तो उसकी बड़ी जनसंख्या इसमें बाधक है या सहायक? अगर लोकतंत्र और मानवाधिकार के प्रति सम्मान ही कसौटी हो तो इस मामले में बेहतरीन रिकार्ड वाले देशों की कतार लग जाएगी। सवाल यह है कि क्या ये देश 'परिषद्' के सदस्य के रूप में प्रभावकारी होंगे?

इसके आगे सवाल यह भी है कि प्रतिनिधित्व के मसले को कैसे हल किया

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- कक्षा को छः समूहों में बांटे। हर समूह संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता के लिए यहाँ सुझाए गए किसी एक मानदंड का पालन करेगा।
- हर समूह अपने मानदंड के आधार पर स्थायी सदस्यों की एक सूची बनाएगा। (मसलन जनसंख्या के मानदंड को अपनाने वाला समूह पाँच सर्वाधिक जनसंख्या वाले देशों की सूची बनाएगा।)
- हर समूह अपनी सुझाई हुई सूची पर एक प्रस्तुति करेगा और बताएगा कि यह मानदंड क्यों अपनाया जाना चाहिए।

अध्यापकों के लिए

- छात्रों को समूह के लिए वह मानदंड अपनाने दें जिसकी वे स्वयं तरफदारी कर रहे हों।
- सभी सूचियों की तुलना करें और देखें कि कितने नाम इन सूचियों में साझे हैं। यह भी देखें कि कितनी बार भारत का नाम आ रहा है।
- कुछ समय एक खुली चर्चा करें कि हमें कौन-सा मानदंड अपनाना चाहिए।

जाए? क्या भौगोलिक दृष्टि से बराबरी के प्रतिनिधित्व का यह अर्थ है कि एशिया, अफ्रीका, लातिनी अमरीका और कैरेबियाई क्षेत्र की एक-एक सीट सुरक्षा परिषद् में होनी चाहिए? एक प्रश्न यह भी है कि क्या महादेशों के बजाए क्षेत्र और उपक्षेत्र को प्रतिनिधित्व का आधार बनाया जाए। प्रतिनिधित्व का मसला भूगोल के आधार पर क्यों हल किया जाए? आर्थिक विकास को आधार मानकर यह मसला क्यों नहीं हल किया जाए? अगर आर्थिक विकास को आधार मानें तब भी कठिनाई है। विकासशील देश विकास की अलग-अलग सीढ़ियों पर खड़े हैं। फिर संस्कृति का क्या करें? क्या विभिन्न संस्कृतियों या 'सभ्यताओं' को ज़्यादा संतुलित ढंग से प्रतिनिधित्व दिया जाए? कोई विश्व को सभ्यता या संस्कृति के आधार पर बाँटकर कैसे देख सकता है जब कि किसी एक ही राष्ट्र के भीतर विभिन्न संस्कृति-धाराएँ उपस्थित होती हैं?

इसी से जुड़ा एक मसला सदस्यता की प्रकृति को बदलने का था। मिसाल के तौर पर, कुछ का जोर था कि पाँच स्थायी सदस्यों को दिया गया निषेधाधिकार (वीटो पावर) खत्म होना चाहिए। अनेक का मानना था कि निषेधाधिकार लोकतंत्र और संप्रभु राष्ट्रों के बीच बराबरी की धारणा से मेल नहीं खाता अतः यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए उचित या प्रासंगिक नहीं है।

सुरक्षा परिषद् में पाँच स्थायी और दस अस्थायी सदस्य हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद दुनिया में स्थिरता कायम करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में पाँच स्थायी सदस्यों को विशेष हैसियत दी गई। पाँच स्थायी सदस्यों को मुख्य फायदा था कि सुरक्षा-परिषद् में उनकी सदस्यता स्थायी होगी और उन्हें 'वीटो' का अधिकार होगा। अस्थायी सदस्य दो वर्षों के लिए चुने जाते हैं और इस अवधि के बाद उनकी जगह नए सदस्यों का चयन होता है। दो साल की अवधि तक अस्थायी सदस्य रहने के तत्काल बाद किसी देश को फिर से इस पद के लिए नहीं चुना जा सकता। अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन इस तरह से होता है कि विश्व के सभी महादेशों का प्रतिनिधित्व हो सके।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अस्थायी सदस्यों को वीटो का अधिकार नहीं है। सुरक्षा-परिषद् में फैसला मतदान के जरिए होता है। हर सदस्य को एक वोट का अधिकार होता है। बहरहाल, स्थायी सदस्यों में से कोई एक अपने निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग कर सकता है और इस तरह वह किसी फैसले

को रोक सकता है, भले ही अन्य स्थायी सदस्यों और सभी अस्थायी सदस्यों ने उस फ़ैसले के पक्ष में मतदान किया हो।

निषेधाधिकार को समाप्त करने की मुहिम तो चली है लेकिन इस बात की भी समझ बनी है कि स्थायी सदस्य ऐसे सुधार के लिए शायद ही राजी होंगे। शीतयुद्ध भले ही समाप्त हो गया हो, लेकिन संभव है कि विश्व अभी इतने आमूल-चूल बदलाव के लिए तैयार न हो। इस बात का खतरा है कि 'वीटो' न हो तो सन् 1945 के समान इन ताकतवर देशों की दिलचस्पी संयुक्त राष्ट्रसंघ में न रहे; इससे बाहर रहकर वे अपनी रुचि के अनुसार काम करें और उनके जुड़ाव अथवा समर्थन के अभाव में यह संगठन प्रभावकारी न रह जाए।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यायाधिकार

सदस्यता का सवाल एक गंभीर सवाल है। लेकिन इसके अलावा भी विश्व के सामने कुछ ठोस मसले हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जब अपने अस्तित्व के 60 साल पूरे किए तो इसके सभी सदस्य देशों के प्रमुख इस सालगिरह को मनाने के लिए 2005 के सितम्बर में इकट्ठे हुए। इस अवसर पर मौजूदा स्थितियों की समीक्षा हुई। इस बैठक में शामिल नेताओं ने बदलते हुए परिवेश में संयुक्त राष्ट्रसंघ को ज़्यादा प्रासंगिक बनाने के लिए निम्नलिखित कदम उठाने का फ़ैसला किया –

- शांति संस्थापक आयोग का गठन
- यदि कोई राष्ट्र अपने नागरिकों को अत्याचारों से बचाने में असफल हो जाए तो विश्व-बिरादरी इसका उत्तरदायित्व ले – इस बात की स्वीकृति।
- मानवाधिकार परिषद् की स्थापना (2006 के 19 जून से सक्रिय)।
- सहस्राब्दि विकास लक्ष्य (मिलेनियम डेवेलपमेंट गोल्स) को प्राप्त करने पर सहमति।
- हर रूप-रीति के आतंकवाद की निंदा
- एक लोकतंत्र-कोष का गठन
- ट्रस्टीशिप काउंसिल (न्यासिता परिषद्) को समाप्त करने पर सहमति।

यह समझना कठिन नहीं कि ये मुद्दे भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए बड़े पेंचदार हैं। शांति संस्थापक आयोग को क्या करना चाहिए? दुनिया में बहुत-से झगड़े चल रहे हैं। यह आयोग किसमें दखल दे? हर झगड़े में दखल देना क्या इस आयोग के लिए उचित अथवा संभव होगा? ठीक इसी तरह यह सवाल भी पूछा जा सकता है कि अत्याचारों से निपटने में विश्व-बिरादरी की जिम्मेदारी क्या होगी? मानवाधिकार क्या है और इस बात को कौन तय करेगा कि किस स्तर का मानवाधिकार-उल्लंघन हो रहा है? मानवाधिकार-उल्लंघन की दशा में क्या कार्रवाई की जाए – इसे कौन तय करेगा? बहुत से देश अब भी विकासशील जगत का हिस्सा हैं। ऐसे में 'सहस्राब्दि विकास लक्ष्य' में निर्धारित विकास संबंधी महत्वाकांक्षी लक्ष्यों

सन् 2006 तक स्थायी सदस्यों द्वारा 'वीटो-पावर' का इस्तेमाल

स्रोत: *www.un.org*

यह बात बिलकुल ग़लत है। असल में वीटो की ज़रूरत तो कमजोर देशों को है, उनको नहीं जिनके पास पहले से बहुत ताकत है।

शब्दों की बरसात

पेट बेगली, केगल्स कार्टून

डारफर की हालत की एक बानगी। आपका क्या मानना है, संयुक्त राष्ट्रसंघ इस तरह की स्थितियों में किस प्रकार हस्तक्षेप कर सकता है? क्या इसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यायाधिकार में बदलाव की ज़रूरत है?

को मानक बनाना कहाँ तक व्यावहारिक है? क्या आतंकवाद की कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है? संयुक्त राष्ट्रसंघ लोकतंत्र को बढ़ावा देने में धन का इस्तेमाल कैसे करेगा? ऐसे ही और भी सवाल किए जा सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुधार और भारत

भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के ढाँचे में बदलाव के मसले को कई आधारों पर समर्थन दिया है। भारत का मानना है कि बदले हुए विश्व में संयुक्त राष्ट्रसंघ की मज़बूती और दृढ़ता ज़रुरी है। भारत इस बात का भी समर्थन करता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ विभिन्न देशों के बीच सहयोग बढ़ाने और विकास को बढ़ावा देने में ज़्यादा बड़ी भूमिका निभाए। भारत का विश्वास है

संयुक्त राष्ट्रसंघ शांति स्थापना अभियानों का मानचित्र

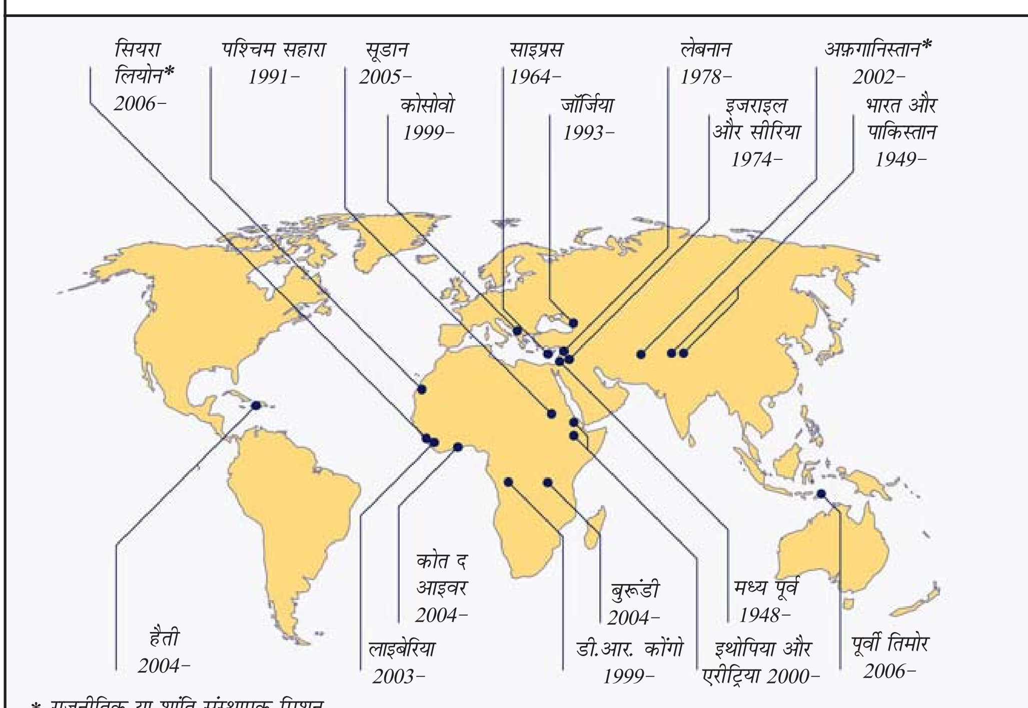

क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ को शांति स्थापना की अपनी गतिविधियों को बढ़ाना चाहिए? विश्व के नक्शे पर उन जगहों पर एक निशान लगाइए जहाँ आप संयुक्त राष्ट्रसंघ की शांतिसेना को देखना चाहते हैं?

स्रोत: *www.un.org/depts/dhl/maplib/flag से लिए आरेख पर आधारित*

कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अजेंडे में विकास का मामला प्रमुख होना चाहिए क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए यह ज़रुरी पूर्व शर्त है।

भारत की एक बड़ी चिंता सुरक्षा परिषद् की संरचना को लेकर है। सुरक्षा-परिषद् की सदस्य संख्या स्थिर रही है जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा में सदस्यों की संख्या खूब बढ़ी है। भारत का मानना है कि इससे सुरक्षा परिषद् के प्रतिनिधित्वमूलक चरित्र की हानि हुई है। भारत का तर्क है कि परिषद् का विस्तार करने पर वह ज़्यादा प्रतिनिधिमूलक होगी और उसे विश्व-बिरादरी का ज़्यादा समर्थन मिलेगा।

हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य संख्या सन् 1965 में 11 से बढ़ाकर 15 कर दी गई थी लेकिन स्थायी सदस्यों की संख्या स्थिर रही। इसके बाद से परिषद् का आकार जस का तस बना हुआ है। यह भी एक तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा में ज़्यादातर विकासशील सदस्य-देश हैं। इस कारण, सुरक्षा परिषद् के फ़ैसलों में उनकी भी सुनी जानी चाहिए क्योंकि इन फ़ैसलों का उन पर प्रभाव पड़ता है।

भारत सुरक्षा परिषद् के अस्थायी और स्थायी, दोनों ही तरह के सदस्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी का समर्थक है। भारत के प्रतिनिधियों का तर्क है कि पिछले कुछ वर्षों में सुरक्षा-परिषद् की गतिविधियों का दायरा बढ़ा है। सुरक्षा-परिषद् के कामकाज की सफलता विश्व-बिरादरी के समर्थन पर निर्भर है। इस कारण सुरक्षा परिषद् के पुनर्गठन की कोई योजना व्यापक धरातल पर बनी चाहिए। मिसाल के लिए, उसमें अभी की अपेक्षा ज़्यादा विकासशील देश होने चाहिए।

विश्व व्यापार संगठन

विश्व व्यापार संगठन (वर्ल्ड ट्रेड आर्गनाइजेशन-WTO) - यह अंतर्राष्ट्रीय संगठन वैश्विक व्यापार के नियमों को तय करता है। इस संगठन की स्थापना सन् 1995 में हुई। यह संगठन 'जेनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एंड टैरिफ' के उत्तराधिकारी के रूप में काम करता है जो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्व में आया था। इनके सदस्यों की संख्या 157 (1 सितंबर 2012 की स्थिति) है। हर फ़ैसला सभी सदस्यों की सहमति से किया जाता है लेकिन अमरीका, यूरोपीय संघ तथा जापान जैसी बड़ी आर्थिक शक्तियाँ विश्व-व्यापार संगठन में व्यापार के नियमों को इस तरह बनाने में कामयाब हो गई हैं जिससे उनके हित सधते हों। विकासशील देशों की बहुधा शिकायत रहती है कि इस संगठन की कार्यविधि पारदर्शी नहीं है और बड़ी आर्थिक ताकतें उन्हें धकियाती हैं।

आश्चर्य नहीं कि भारत खुद भी पुनर्गठित सुरक्षा-परिषद् में एक स्थायी सदस्य बनना चाहता है। भारत विश्व में सबसे बड़ी आबादी वाला दूसरा देश है। भारत में विश्व की कुल-जनसंख्या का 1/5वाँ हिस्सा निवास करता है। इसके अतिरिक्त, भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की लगभग सभी पहलकदमियों में भाग लिया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के शांति बहाल करने के प्रयासों में भारत लंबे समय से ठोस भूमिका निभाता आ रहा है। सुरक्षा परिषद् में भारत की स्थायी सदस्यता की दावेदारी इसलिए भी उचित है क्योंकि वह तेजी से अंतर्राष्ट्रीय फलक पर आर्थिक-शक्ति बनकर उभर रहा है। भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट में नियमित रूप से अपना योगदान दिया है और यह कभी भी अपने भुगतान से चुका नहीं है। भारत इस बात से आगाह है कि सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यता का एक प्रतीकात्मक महत्त्व भी है। इससे पता चलता है कि किसी देश का अंतर्राष्ट्रीय मामलों में महत्त्व बढ़ रहा है। किसी देश को अपनी इस बढ़ी हुई हैसियत का फायदा उसकी विदेश नीति में मिलता है।

क्या हम पाँच बड़े दादाओं की दादागिरी खत्म करना चाहते हैं या उनमें शामिल होकर एक और दादा बनना चाहते हैं?

अंतर्राष्ट्रीय आण्विक ऊर्जा एजेंसी

अंतर्राष्ट्रीय आण्विक ऊर्जा एजेंसी (इंटरनेशनल एटॉमिक एनर्जी एजेंसी -IAEA) - इस संगठन की स्थापना 1957 में हुई। यह संगठन परमाण्विक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग को बढ़ावा देने और सैन्य उद्देश्यों में इसके इस्तेमाल को रोकने की कोशिश करता है। इस संगठन के अधिकारी नियमित रूप से विश्व की परमाण्विक सुविधाओं की जाँच करते हैं ताकि नागरिक परमाणु-संयंत्रों का इस्तेमाल सैन्य उद्देश्यों के लिए न हो।

अगर आपकी साख एक ताकतवर देश के रूप में है तो आपका प्रभाव ज़्यादा होगा।

भारत चाहता है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार संपन्न (वीटोधारी) सदस्य बने, लेकिन कुछ देश सुरक्षा परिषद् में भारत को स्थायी सदस्य बनाने का विरोध करते हैं। सिर्फ पड़ोसी पाकिस्तान ही नहीं, जिनके साथ भारत के संबंध दिक्कततलब रहे हैं, बल्कि कुछ और देश भी चाहते हैं कि भारत को सुरक्षा परिषद् में वीटोधारी स्थायी सदस्य के रूप में शामिल न किया जाए। मिसाल के लिए, कुछ देश भारत के परमाणु हथियारों को लेकर चिंतित हैं। कुछ और देशों का मानना है कि पाकिस्तान के साथ संबंधों में कठिनाई के कारण भारत स्थायी सदस्य के रूप में अप्रभावी रहेगा। कुछ अन्य देशों का मानना है कि उभरती हुई ताकत के रूप में अन्य देशों मसलन ब्राजील, जर्मनी, जापान और शायद दक्षिण अफ्रीका को भी शामिल करना पड़ेगा जिसका ये देश विरोध करते हैं। कुछ देशों का विचार है कि अगर सुरक्षा परिषद् में किसी तरह का विस्तार होता है तो अफ्रीका और दक्षिण अमरीका को ज़रूर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए क्योंकि मौजूदा सुरक्षा परिषद् में इन्हीं महादेशों की नुमाइंदगी नहीं है। इन सरोकारों को देखते हुए भारत या किसी और देश के लिए निकट भविष्य में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बन पाना मुश्किल लगता है।

अगर संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी को न्यूयार्क बुलाए और अमरीका उसे वीजा न दे तो क्या होगा?

एक-ध्रुवीय विश्व में संयुक्त राष्ट्रसंघ

संयुक्त राष्ट्रसंघ के ढाँचे और प्रक्रियाओं में सुधार से कुछ देशों की यह आशा भी बँधी रही है कि इन बदलावों से संयुक्त राष्ट्रसंघ एक-ध्रुवीय विश्व में जहाँ अमरीका सबसे ताकतवर देश है और उसका कोई गंभीर प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं – कारगर ढंग से काम कर पाएगा। क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ अमरीकी प्रभुत्व के विरुद्ध संतुलनकारी भूमिका निभा सकता है? क्या यह संगठन शेष विश्व और अमरीका के बीच संवाद कायम करके अमरीका को अपनी मनमानी करने से रोक सकता है?

अमरीका की ताकत पर आसानी से अंकुश नहीं लगाया जा सकता। पहली बात तो यह कि सोवियत संघ की गैर मौजूदगी में अब अमरीका एकमात्र महाशक्ति है। अपनी सैन्य और आर्थिक ताकत के बूते वह संयुक्त राष्ट्रसंघ या किसी अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठन की अनदेखी कर सकता है।

दूसरे, संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर अमरीका का खास प्रभाव है। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट में सबसे ज़्यादा योगदान करने वाला देश है। अमरीका की वित्तीय ताकत बेजोड़ है। यह भी एक तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अमरीकी भू-क्षेत्र में स्थित है और इस कारण भी अमरीका का प्रभाव इसमें बढ़ जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के कई नौकरशाह इसके नागरिक हैं। इसके अतिरिक्त, अगर अमरीका को लगे कि कोई प्रस्ताव उसके अथवा उसके साथी राष्ट्रों के हितों के अनुकूल नहीं है अथवा अमरीका

को यह प्रस्ताव न जँचे तो अपने 'वीटो' से वह उसे रोक सकता है। अपनी ताकत और निषेधाधिकार के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव के चयन में भी अमरीका की बात बहुत वज़न रखती है। अमरीका अपनी इस ताकत के बूते शेष विश्व में फूट डाल सकता है और डालता है, ताकि उसकी नीतियों का विरोध मंद पड़ जाए।

इस तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ अमरीका की ताकत पर अंकुश लगाने में ख़ास सक्षम नहीं। फिर भी, एकध्रुवीय विश्व में जहाँ अमरीकी ताकत का बोलबाला है – संयुक्त राष्ट्रसंघ अमरीका और शेष विश्व के बीच विभिन्न मसलों पर बातचीत कायम कर सकता है और इस संगठन ने ऐसा किया भी है। अमरीकी नेता अक्सर संयुक्त राष्ट्रसंघ की आलोचना करते हैं लेकिन वे इस बात को समझते हैं कि झगड़ों और सामाजिक-आर्थिक विकास के मसले पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के जरिए 190 राष्ट्रों को एक साथ किया जा सकता है। जहाँ तक शेष विश्व की बात है तो उसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसा मंच है जहाँ अमरीकी रवैये और नीतियों पर कुछ अंकुश लगाया जा सकता है। यह बात ठीक है कि वाशिंगटन के विरुद्ध शेष विश्व शायद ही कभी एकजुट हो पाता है और अमरीका की ताकत पर अंकुश लगाना एक हद तक असंभव है, लेकिन इसके बावजूद संयुक्त राष्ट्रसंघ ही वह जगह है जहाँ अमरीका के किसी खास रवैये और नीति की आलोचना की सुनवाई हो और कोई बीच का रास्ता निकालने तथा रियायत देने की बात कही-सोची जा सके।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में थोड़ी कमियाँ हैं लेकिन इसके बिना दुनिया और बदहाल होगी। आज विभिन्न समाजों और मसलों के बीच आपसी तार जुड़ते जा रहे हैं। इसे 'पारस्परिक निर्भरता' का नाम दिया जाता है। इसे देखते हुए यह कल्पना करना कठिन है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे संगठन के बिना विश्व के सात अरब से भी ज़्यादा लोग कैसे रहेंगे। प्रौद्योगिकी यह

अगर दाएँ हाथ से बात नहीं... समझोगे

...तो बाएँ हाथ से समझायी जाएगी

माइक लेन, केगल्स कार्टून

खुद करें, खुद सीखें

आसियान क्षेत्रीय मंच के सदस्यों के नाम पता करें।

एमनेस्टी इंटरनेशनल

एमनेस्टी इंटरनेशनल एक स्वयंसेवी संगठन है। यह पूरे विश्व में मानवाधिकारों की रक्षा के लिए अभियान चलाता है। यह संगठन मानवाधिकारों से जुड़ी रिपोर्ट तैयार और प्रकाशित करता है। सरकारों को ये रिपोर्ट अक्सर नागवार लगती हैं क्योंकि एमनेस्टी का ज़्यादा जोर सरकारों द्वारा किए जा रहे दुर्व्यवहार पर होता है। बहरहाल, ये रिपोर्ट मानवाधिकारों से संबंधित अनुसंधान और तरफदारी में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ह्यूमन राइट्स वॉच

यह भी मानवाधिकारों की वकालत और उनसे संबंधित अनुसंधान करने वाला एक अंतर्राष्ट्रीय स्वयंसेवी संगठन है। यह अमरीका का सबसे बड़ा अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन है। यह दुनिया भर के मीडिया का ध्यान मानवाधिकारों के उल्लंघन की ओर खींचता है। इसने बारूदी सुरंगों पर रोक लगाने के लिए , बाल सैनिकों का प्रयोग रोकने के लिए और अंतर्राष्ट्रीय दंड न्यायालय स्थापित करने के लिए अभियान चलाने में मदद की है।

सिद्ध कर रही है कि आने वाले दिनों में विश्व में पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जाएगी। इसलिए, संयुक्त राष्ट्रसंघ का महत्त्व भी निरंतर बढ़ेगा। लोगों को और सरकारों को संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा दूसरे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के समर्थन और उपयोग के तरीके तलाशने होंगे – ऐसे तरीके जो उनके हितों और विश्व बिरादरी के हितों से व्यापक धरातल पर मेल खाते हों।

प्रश्नावली

1. निषेधाधिकार (वीटो) के बारे में नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। इनमें प्रत्येक के आगे सही या ग़लत का चिह्न लगाएँ।
   (क) सुरक्षा-परिषद् के सिर्फ स्थायी सदस्यों को 'वीटो' का अधिकार है।
   (ख) यह एक तरह की नकारात्मक शक्ति है।
   (ग) सुरक्षा परिषद् के फ़ैसलों से असंतुष्ट होने पर महासचिव 'वीटो' का प्रयोग करता है।
   (घ) एक 'वीटो' से भी सुरक्षा-परिषद् का प्रस्ताव नामंज़ूर हो सकता है।

2. संयुक्त राष्ट्रसंघ के कामकाज के बारे में नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। इनमें से प्रत्येक के सामने सही या ग़लत का चिह्न लगाएँ।
   (क) सुरक्षा और शांति से जुड़े सभी मसलों का निपटारा सुरक्षा-परिषद् में होता है।
   (ख) मानवतावादी नीतियों का क्रियान्वयन विश्वभर में फैली मुख्य शाखाओं तथा एजेंसियों के मार्फत होता है।
   (ग) सुरक्षा के किसी मसले पर पाँचों स्थायी सदस्य देशों का सहमत होना उसके बारे में लिए गए फैसले के क्रियान्वयन के लिए ज़रूरी है।
   (घ) संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाकी प्रमुख अंगों और विशेष एजेंसियों के स्वत: सदस्य हो जाते हैं।

3. निम्नलिखित में से कौन-सा तथ्य सुरक्षा-परिषद् में भारत की स्थायी सदस्यता के प्रस्ताव को ज़्यादा वज़नदार बनाता है?
   (क) परमाणु क्षमता
   (ख) भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ के जन्म से ही उसका सदस्य है।
   (ग) भारत एशिया में है।
   (घ) भारत की बढ़ती हुई आर्थिक ताकत और स्थिर राजनीतिक व्यवस्था

4. परमाणु प्रौद्योगिकी के शांतिपूर्ण उपयोग और उसकी सुरक्षा से संबद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ की एजेंसी का नाम है –
   (क) संयुक्त राष्ट्रसंघ निरस्त्रीकरण समिति
   (ख) अंतर्राष्ट्रीय आण्विक ऊर्जा एजेंसी

प्रश्नावली

(ग) संयुक्त राष्ट्रसंघ अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा समिति
(घ) इनमें से कोई नहीं।

5. विश्व व्यापार संगठन निम्नलिखित में से किस संगठन का उत्तराधिकारी है?
(क) जेनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एंड टैरिफ
(ख) जेनरल एरेंजमेंट ऑन ट्रेड एंड टैरिफ
(ग) विश्व स्वास्थ्य संगठन
(घ) संयुक्त राष्ट्रसंघ विकास कार्यक्रम

6. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।
(क) संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य .... है।
(ख) संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे जाना-पहचाना पद .... का है।
(ग) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् में .... स्थायी और .... अस्थायी सदस्य हैं।
(घ) .... संयुक्त राष्ट्रसंघ के वर्तमान महासचिव हैं।
(च) मानवाधिकारों की रक्षा में सक्रिय दो स्वयंसेवी संगठन .... और .... हैं।

7. संयुक्त राष्ट्रसंघ की मुख्य शाखाओं और एजेंसियों का सुमेल उनके काम से करें –
1. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्
2. अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय
3. अंतर्राष्ट्रीय आण्विक ऊर्जा एजेंसी
4. सुरक्षा-परिषद्
5. संयुक्त राष्ट्रसंघ शरणार्थी उच्चायोग
6. विश्व व्यापार संगठन
7. अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
8. आम सभा
9. विश्व स्वास्थ्य संगठन
10. सचिवालय

(क) वैश्विक वित्त-व्यवस्था की देखरेख।
(ख) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का संरक्षण।
(ग) सदस्य देशों के आर्थिक और सामाजिक कल्याण की चिंता।
(घ) परमाणु प्रौद्योगिकी का शांतिपूर्ण उपयोग और सुरक्षा।
(ड) सदस्य देशों के बीच मौजूद विवादों का निपटारा।
(च) आपातकाल में आश्रय तथा चिकित्सीय सहायता मुहैया करना।
(छ) वैश्विक मामलों पर बहस-मुबाहिसा
(ज) संयुक्त राष्ट्रसंघ के मामलों का समायोजन और प्रशासन
(झ) सबके लिए स्वास्थ्य
(ञ) सदस्य देशों के बीच मुक्त व्यापार की राह आसान बनाना।

प्रश्नावली

8. सुरक्षा-परिषद् के कार्य क्या हैं?
9. भारत के नागरिक के रूप में सुरक्षा-परिषद् में भारत की स्थायी सदस्यता के पक्ष का समर्थन आप कैसे करेंगे? अपने प्रस्ताव का औचित्य सिद्ध करें।
10. संयुक्त राष्ट्रसंघ के ढाँचे को बदलने के लिए सुझाए गए उपायों के क्रियान्वयन में आ रही कठिनाइयों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें?
11. हालाँकि संयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध और इससे उत्पन्न विपदा को रोकने में नाकामयाब रहा है लेकिन विभिन्न देश अभी भी इसे बनाए रखना चाहते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक अपरिहार्य संगठन मानने के क्या कारण हैं।
12. संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुधार का अर्थ है सुरक्षा परिषद् के ढाँचे में बदलाव। इस कथन का सत्यापन करें।

अध्याय 7

समकालीन विश्व में सुरक्षा

परिचय

विश्व-राजनीति के बारे में पढ़ते हुए अक्सर हमारा सामना 'सुरक्षा' अथवा 'राष्ट्रीय सुरक्षा' जैसे शब्द से होता है। हम सोचते हैं कि इन शब्दों के अर्थ हमें मालूम है। लेकिन, क्या सचमुच हमें इन शब्दों के अर्थ मालूम हैं? बहस या चर्चा को रोकना हो तो अक्सर इस जुमले का इस्तेमाल होता है। कहा जाता है कि यह सुरक्षा का मसला है और देश की भलाई के लिए बड़ा ज़रूरी है। ऐसा कहने का मकसद यह जताना होता है कि मसला बड़ा महत्त्वपूर्ण अथवा गुप्त है और इस कारण उस पर खुली चर्चा नहीं हो सकती। हम ऐसी फिल्में देखते हैं जिसमें 'राष्ट्रीय सुरक्षा' से जुड़ा सब कुछ बड़ा ढँका-छुपा और खतरनाक होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानों सुरक्षा सात तालों के भीतर की चीज हो और जिससे आम नागरिक का कुछ लेना-देना न हो। लेकिन लोकतंत्र में कोई भी बात इतनी ढँकी-छुपी नहीं रखी जा सकती। सुरक्षा के बारे में हमें और ज़्यादा जानने की ज़रूरत है। सुरक्षा क्या है, भारत के सुरक्षा सरोकार क्या-क्या हैं? यह अध्याय इन सवालों पर बहस करता है। इसमें सुरक्षा को समझने के दो नज़रियों की चर्चा की गई है। अध्याय में इस बात पर जोर दिया गया है कि विभिन्न संदर्भ और स्थितियों को ध्यान में रखना ज़रूरी है क्योंकि इसी से सुरक्षा के बारे में हमारा नज़रिया बनता है।

ये चित्र सुरक्षा के दो भिन्न पहलुओं को दर्शाते हैं। कुछ चित्र ग्वेटामाला में चल रहे गृह-युद्ध के हैं। आप देख सकते हैं कि माताएँ युद्ध में खोए अपने बच्चों का इंतजार कर रही हैं और युद्ध में शहीद हुए लोगों को याद किया जा रहा है। कुछ चित्र बांग्लोदश के हैं। इनमें बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदा से पैदा हुई असुरक्षा को दिखाया गया है।

मेरी सुरक्षा के बारे में किसने फैसला किया? कुछ नेताओं और विशेषज्ञों ने? क्या मैं अपनी सुरक्षा का फैसला नहीं कर सकती?

सुरक्षा क्या है?

सुरक्षा का बुनियादी अर्थ है खतरे से आज़ादी। मानव का अस्तित्व और किसी देश का जीवन खतरों से भरा होता है। तब क्या इसका मतलब यह है कि हर तरह के ख़तरे को सुरक्षा पर खतरा माना जाय? आदमी जब भी अपने घर से बाहर कदम निकालता है तो उसके अस्तित्व अथवा जीवन-यापन के तरीकों को किसी न किसी अर्थ में खतरा ज़रूर होता है। यदि हमने खतरे का इतना व्यापक अर्थ लिया तो फिर हमारी दुनिया में हर घड़ी और हर जगह सुरक्षा के ही सवाल नज़र आयेंगे।

इसी कारण जो लोग सुरक्षा विषयक अध्ययन करते हैं उनका कहना है कि केवल उन चीजों को 'सुरक्षा' से जुड़ी चीजों का विषय बनाया जाय जिनसे जीवन के 'केंद्रीय मूल्यों' को खतरा हो। तो फिर सवाल बनता है कि किसके केंद्रीय मूल्य? क्या पूरे देश के 'केंद्रीय मूल्य'? आम स्त्री-पुरुषों के केंद्रीय मूल्य ? क्या नागरिकों की नुमाइंदगी करने वाली सरकार हमेशा 'केंद्रीय मूल्यों' का वही अर्थ ग्रहण करती है जो कोई साधारण नागरिक?

इसके अतिरिक्त जब हम केंद्रीय मूल्यों पर मंडराते ख़तरों की बात कहते हैं तो यह सवाल भी उठता है कि ये ख़तरे कितने गहरे होने चाहिए? जो मूल्य हमें प्यारे हैं कमोबेश उन सभी को बड़े या छोटे ख़तरे होते हैं। क्या हर ख़तरे को सुरक्षा की समझ में शामिल किया जा सकता है? जब भी कोई राष्ट्र कुछ करता है अथवा कुछ करने में असफल होता है तो संभव है इससे किसी अन्य देश के केंद्रीय मूल्यों को हानि पहुँचती हो। जब भी राहगीर अपनी राह में लूटा जाता है तो आम आदमी के रोजमर्रा के जीवन को क्षति पहुँचती है। फिर भी, अगर हम सुरक्षा का इतना व्यापक अर्थ करें तो हाथ-पांव हिलाना भी मुश्किल हो जाएगा; हर जगह हमें ख़तरे नज़र आएँगे।

इस तरह देखें तो हम इन बातों से एक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। सुरक्षा का रिश्ता फिर बड़े गंभीर खतरों से है; ऐसे खतरे जिनको रोकने के उपाय न किए गए तो हमारे केंद्रीय मूल्यों को अपूरणीय क्षति पहुँचेगी।

ये बातें तो ठीक हैं, फिर भी हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि 'सुरक्षा' अपने आप में भुलैयादार धारणा है। मिसाल के लिए हम यह पूछ सकते हैं कि क्या सदियों अथवा दशकों से विभिन्न समाजों में सुरक्षा की एकसमान धारणा चली आ रही है? ऐसा हो तो आश्चर्यजनक है क्योंकि संसार में कितनी ही बातें रोज

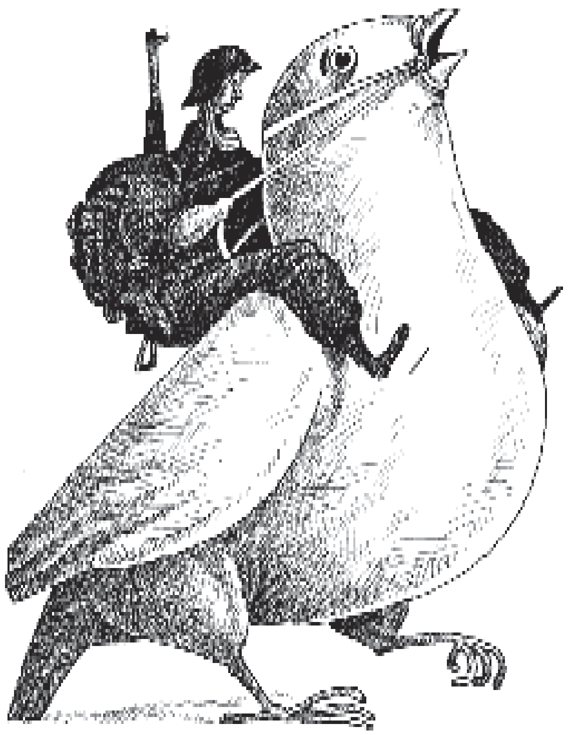

एस, केगल्स कार्टून

आपने 'शांति-सेना' के बारे में सुना होगा। क्या आपको लगता है कि 'शांति-सेना' का होना स्वयं में एक विरोधाभासी बात है?

बदलती रहती हैं। फिर हम यह सवाल भी कर सकते हैं कि क्या किसी ख़ास समय में विश्व के सभी समाजों में सुरक्षा की एक जैसी धारणा रहती है? यह बात भी हजम नहीं होती और आश्चर्यजनक लगती है कि करीब 200 मुल्कों के 7 अरब लोग सुरक्षा की एक जैसी धारणा रखते हों? ऐसे में आपको यह जानकार कोई धक्का नहीं लगेगा कि सुरक्षा एक विवादग्रस्त धारणा है। आइए, सुरक्षा की विभिन्न धारणाओं को दो कोटियों में रखकर समझने की कोशिश करते हैं यानी सुरक्षा की पारंपरिक और अपारंपरिक धारणा।

पारंपरिक धारणा – बाहरी सुरक्षा

अधिकांशतया जब हम सुरक्षा के बारे में कुछ पढ़ या सुन रहे होते हैं तो हमारा सामना सुरक्षा की पारंपरिक अर्थात् राष्ट्रीय सुरक्षा की धारणा से होता है। सुरक्षा की पारंपरिक अवधारणा में सैन्य ख़तरे को किसी देश के लिए सबसे ज़्यादा ख़तरनाक माना जाता है। इस ख़तरे का स्रोत कोई दूसरा मुल्क होता है जो सैन्य हमले की धमकी देकर संप्रभुता, स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अखंडता जैसे किसी देश के केंद्रीय मूल्यों के लिए ख़तरा पैदा करता है। सैन्य कार्रवाई से आम नागरिकों के जीवन को भी ख़तरा होता है। शायद ही कभी ऐसा होता हो कि किसी युद्ध में सिर्फ सैनिक घायल हों अथवा मारे जायें। आम स्त्री-पुरुष को भी युद्ध में हानि उठानी पड़ती है। अक्सर निहत्थे और आम औरत-मर्द को जंग का निशाना बनाया जाता है; उनका और उनकी सरकार का हौसला तोड़ने की कोशिश होती है।

एस, केरालस कार्टून

युद्ध की अर्थव्यवस्था

बुनियादी तौर पर किसी सरकार के पास युद्ध की स्थिति में तीन विकल्प होते हैं – आत्मसमर्पण करना तथा दूसरे पक्ष की बात को बिना युद्ध किए मान लेना अथवा युद्ध से होने वाले नाश को इस हद तक बढ़ाने के संकेत देना कि दूसरा पक्ष सहमकर हमला करने से बाज आये या युद्ध ठन जाय तो अपनी रक्षा करना ताकि हमलावर देश अपने मकसद में कामयाब न हो सके और पीछे हट जाए अथवा हमलावर को पराजित कर देना। युद्ध में कोई सरकार भले ही आत्मसमर्पण कर दे लेकिन वह इसे अपने देश की नीति के रूप में कभी प्रचारित नहीं करना चाहेगी। इस कारण, सुरक्षा-नीति का संबंध युद्ध की आशंका को रोकने में होता है जिसे 'अपरोध' कहा जाता है और युद्ध को सीमित रखने अथवा उसको समाप्त करने से होता है जिसे रक्षा कहा जाता है।

परंपरागत सुरक्षा-नीति का एक तत्त्व और है। इसे शक्ति-संतुलन कहते हैं। कोई देश

युद्ध का मतलब है असुरक्षा, विध्वंस और मृत्यु! युद्ध किसी को क्या सुरक्षा दे पाएगा?

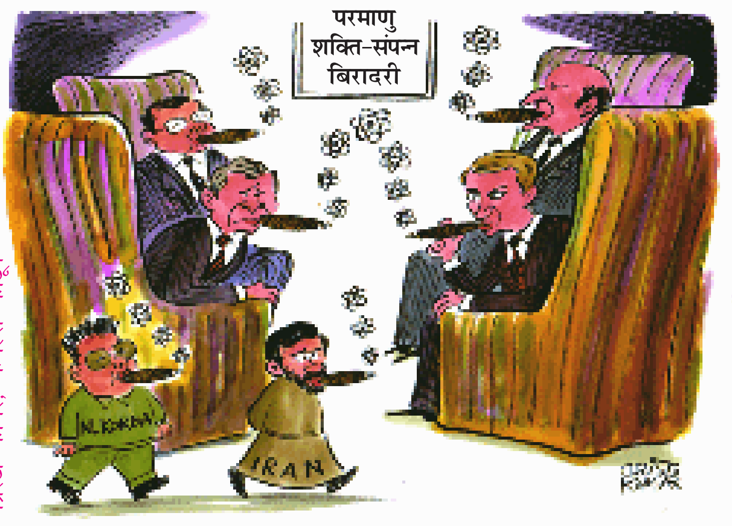

ग्रिस्टो कोमर, केगल्स कार्टून

जब कोई नया देश परमाणु शक्ति-संपन्न होने की दावेदारी करता है तो बड़ी ताकतें क्या रवैया अख्तियार करती हैं? हमारे पास यह कहने के क्या आधार हैं कि परमाण्विक हथियारों से लैस कुछ देशों पर तो विश्वास किया जा सकता है परंतु कुछ पर नहीं?

अपने अड़ोस-पड़ोस में देखने पर पाता है कि कुछ मुल्क छोटे हैं तो कुछ बड़े। इससे इशारा मिल जाता है कि भविष्य में किस देश से उसे खतरा हो सकता है। मिसाल के लिए कोई पड़ोसी देश संभव है यह न कहे कि वह हमले की तैयारी में जुटा है। हमले का कोई प्रकट कारण भी नहीं जान पड़ता हो। फिर भी यह देखकर कि कोई देश बहुत ताकतवर है यह भांपा जा सकता है कि भविष्य में वह हमलावर हो सकता है। इस वजह से हर सरकार दूसरे देश से अपने शक्ति-संतुलन को लेकर बहुत संवेदनशील रहती है। कोई सरकार दूसरे देशों से शक्ति-संतुलन का पलड़ा अपने पक्ष में बैठाने के लिए जी-तोड़ कोशिश करती है। जो देश नजदीक हों, जिनके साथ अनबन हो या जिन देशों के साथ अतीत में लड़ाई हो चुकी हो उनके साथ शक्ति-संतुलन को अपने पक्ष में करने पर ख़ास तौर पर जोर दिया जाता है। शक्ति-संतुलन बनाये रखने की यह कवायद ज़्यादातर अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ाने की होती है लेकिन आर्थिक और प्रौद्योगिकी की ताकत भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सैन्य-शक्ति का यही आधार है।

पारंपरिक सुरक्षा-नीति का चौथा तत्त्व है गठबंधन बनाना। गठबंधन में कई देश शामिल होते हैं और सैन्य हमले को रोकने अथवा उससे रक्षा करने के लिए समवेत कदम उठाते हैं। अधिकांश गठबंधनों को लिखित संधि से एक औपचारिक रूप मिलता है और ऐसे गठबंधनों को यह बात बिलकुल स्पष्ट रहती है कि खतरा किससे है। किसी देश अथवा गठबंधन की तुलना में अपनी ताकत का असर बढ़ाने के लिए देश गठबंधन बनाते हैं। गठबंधन राष्ट्रीय हितों पर आधारित होते हैं और राष्ट्रीय हितों के बदलने पर गठबंधन भी बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका ने सन् 1980 के दशक में सोवियत संघ के खिलाफ इस्लामी उग्रवादियों को समर्थन दिया लेकिन ओसामा बिन लादेन के नेतृत्व में अल-कायदा नामक समूह के आतंकवादियों ने जब 11 सितंबर 2001 के दिन उस पर हमला किया तो उसने इस्लामी उग्रवादियों के खिलाफ मोर्चा खोल दिया।

सुरक्षा की परंपरागत धारणा में माना जाता है कि किसी देश की सुरक्षा को ज़्यादातर ख़तरा उसकी सीमा के बाहर से होता है। इसकी वज़ह है अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था। इस निर्मम मैदान में ऐसी कोई केंद्रीय ताकत नहीं जो देशों के व्यवहार-बरताव पर अंकुश रखने में सक्षम हो। किसी देश के भीतर हिंसा के ख़तरों से निपटने के लिए एक जानी-पहचानी व्यवस्था होती है – इसे सरकार कहते हैं। लेकिन, विश्व-राजनीति में ऐसी कोई केंद्रीय सत्ता नहीं जो सबके ऊपर हो। यह सोचने का लालच हो सकता है कि

संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसी सत्ता है अथवा ऐसा बन सकता है। बहरहाल, फिलहाल अपनी बनावट के अनुरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने सदस्य देशों का दास है और इसके सदस्य देश जितनी सत्ता इसको सौंपते और स्वीकारते हैं उतनी ही सत्ता इसे हासिल होती है। अतः विश्व-राजनीति में हर देश को अपनी सुरक्षा की जिम्मेदारी खुद उठानी होती है।

पारंपरिक धारणा- आंतरिक सुरक्षा

इतनी बातों को पढ़ने के बाद आपके जेहन में यह सवाल ज़रूर कौंधा होगा कि क्या सुरक्षा आंतरिक शांति और कानून-व्यवस्था पर निर्भर नहीं करती? अगर किसी देश के भीतर रक्तपात हो रहा हो अथवा होने की आशंका हो तो वह देश सुरक्षित कैसे हो सकता है? यह बाहर के हमलों से निपटने की तैयारी कैसे करेगा जबकि खुद अपनी सीमा के भीतर सुरक्षित नहीं है?

इसी कारण सुरक्षा की परंपरागत धारणा का ज़रूरी रिश्ता अंदरूनी सुरक्षा से भी है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से इस पहलू पर ज़्यादा जोर नहीं दिया गया तो इसका कारण यही था कि दुनिया के अधिकांश ताकतवर देश अपनी अंदरूनी सुरक्षा के प्रति कमोबेश आश्वस्त थे। हमने पहले कहा था कि संदर्भ और स्थिति को नज़र में रखना ज़रूरी है। आंतरिक सुरक्षा ऐतिहासिक रूप से सरकारों का सरोकार बनी चली आ रही थी लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ऐसे हालात और संदर्भ सामने आये कि आंतरिक सुरक्षा पहले की तुलना में कहीं कम महत्त्व की चीज बन गई। सन् 1945 के बाद ऐसा जान पड़ा कि संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ अपनी सीमा के अंदर एकीकृत और शांति संपन्न हैं। अधिकांश यूरोपीय देशों, खासकर ताकतवर पश्चिमी मुल्कों के सामने अपनी सीमा के भीतर बसे समुदायों अथवा वर्गों से कोई गंभीर खतरा नहीं था। इस कारण इन देशों ने अपना ध्यान सीमापार के खतरों पर केंद्रित किया।

इन देशों के सामने बाहरी खतरे क्या थे? यहाँ पर फिर हमें संदर्भ और स्थिति पर ध्यान देना होगा। हम इस बात को जानते हैं कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद शीतयुद्ध का दौर चला और इस दौर में संयुक्त राष्ट्र अमरीका के नेतृत्व वाला पश्चिमी गुट तथा सोवियत संघ की अगुआई वाला साम्यवादी गुट एक-दूसरे के आमने-सामने थे। सबसे बड़ी बात यह कि दोनों गुटों को अपने ऊपर एक-दूसरे से सैन्य हमले का भय था। इसके अतिरिक्त, कुछ यूरोपीय देशों को अपने उपनिवेशों में उपनिवेशीकृत जनता से खून-खराबे की चिंता सता रही थी। अब ये लोग आज़ादी चाहते थे। इस सिलसिले में हम याद करें कि 1950 के दशक में फ्रांस को वितयनाम अथवा सन् 1950 और 1960 के दशक में ब्रिटेन को केन्या में जूझना पड़ा।

उपनिवेशों ने 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध से आजाद होना शुरू किया और उनके सुरक्षा-सरोकार अक्सर यूरोपीय ताकतों के समान ही थे। कुछ नव स्वतंत्र देश यूरोपीय ताकतों के समान शीतयुद्धकालीन गुटों में एक न एक के सदस्य बन गए। ऐसे में इन देशों को जोर पकड़ते शीतयुद्ध की चिंता करनी थी और दूसरे खेमे में जाने वाले अपने पड़ोसी देश अथवा दूसरे गुट के नेता (संयुक्त राज्य अमरीका अथवा सोवियत संघ) से दुश्मनी ठाननी थी या अमरीका अथवा सोवियत संघ के किसी साथी देश से वैर मोलना था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जितने युद्ध हुए उसमें एक तिहाई

खुद करें, खुद सीखें

एक हफ्ते के अखबार पर नज़र दौड़ाएँ और पूरे विश्व में चल रहे अंदरूनी तथा बाहरी संघर्षों की सूची बनाएँ।

एस, केशव्स कार्टून

तीसरी दुनिया के हथियार

युद्धों के लिए शीतयुद्ध जिम्मेदार रहा। इनमें से अधिकांश युद्ध तीसरी दुनिया में हुए। जिस तरह विदा होती औपनिवेशिक ताकतों को उपनिवेशों में खून-खराबे का भय सता रहा था उसी तरह आजादी के बाद कुछ उपनिवेशित मुल्कों को डर था कि उनके यूरोपीय औपनिवेशिक शासक कहीं उन पर हमला न बोल दें। ऐसे में इन मुल्कों को एक साम्राज्यवादी युद्ध से अपनी रक्षा के लिए तैयारी करनी पड़ी।

एशिया और अफ्रीका के नव स्वतंत्र देशों के सामने खड़ी सुरक्षा की चुनौतियाँ यूरोपीय देशों के मुकाबले दो मायनों में विशिष्ट थीं। एक तो इन देशों को अपने पड़ोसी देश से सैन्य हमले की आशंका थी। दूसरे, इन्हें अंदरूनी सैन्य-संघर्ष की भी चिंता करनी थी।

इन देशों को सीमापार से खतरा तो था ही, खासकर पड़ोसी देशों से; साथ ही भीतर से भी खतरे की आशंका थी। अनेक नव स्वतंत्र देश संयुक्त राज्य अमरीका या सोवियत संघ अथवा औपनिवेशिक ताकतों से कहीं ज़्यादा अपने पड़ोसी देशों से आशंकित थे। इनके बीच सीमा रेखा और भूक्षेत्र अथवा आबादी पर नियंत्रण को लेकर या एक-एक करके सभी सवालों पर झगड़े हुए।

अलग राष्ट्र बनाने पर तुले अंदर के अलगाववादी आंदोलनों से भी इन देशों को खतरा था। कोई पड़ोसी मुल्क ऐसे अलगाववादी आंदोलन को हवा दे अथवा उसकी सहायता करे तो दो पड़ोसी देशों के बीच तनाव की स्थिति बनती थी (विश्व के सशस्त्र संघर्षों में 95 प्रतिशत अब आंतरिक युद्ध के अंतर्गत हैं। सन् 1946 से 1991 के बीच गृह युद्धों की संख्या में दोगुनी वृद्धि हुई है जो पिछले 200 वर्षों में सबसे लंबी छलांग है।) इस तरह, पड़ोसी देशों से युद्ध और आंतरिक संघर्ष नव-स्वतंत्र देशों के सामने सुरक्षा की सबसे बड़ी चुनौती थे।

जो अपने ही देश के खिलाफ लड़ते हैं निश्चित ही वे किन्हीं बातों से नाखुश होते हैं। शायद यह उनकी असुरक्षा ही है जो देश के लिए असुरक्षा पैदा करती है।

सुरक्षा के पारंपरिक तरीके

सुरक्षा की परंपरागत धारणा में स्वीकार किया जाता है कि हिंसा का इस्तेमाल यथासंभव सीमित होना चाहिए। युद्ध के लक्ष्य और साधन दोनों से इसका संबंध है। 'न्याय-युद्ध' की यूरोपीय परंपरा का ही यह परवर्ती विस्तार है कि आज लगभग पूरा विश्व मानता है कि किसी देश को युद्ध उचित कारणों यानी आत्म-रक्षा अथवा दूसरों को जनसंहार से बचाने के लिए ही करना चाहिए। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी युद्ध में युद्ध-साधनों का सीमित इस्तेमाल होना चाहिए। युद्धरत् सेना को चाहिए कि वह संघर्षविमुख शत्रु, निहत्थे व्यक्ति अथवा आत्मसपर्मण करने वाले शत्रु को न मारे। सेना को उतने ही बल का प्रयोग करना चाहिए जितना आत्मरक्षा के लिए ज़रूरी हो और उसे एक सीमा तक ही हिंसा का सहारा लेना चाहिए। बल प्रयोग तभी किया जाय जब बाकी उपाय असफल हो गए हों।

सुरक्षा की परंपरागत धारणा इस संभावना से इन्कार नहीं करती कि देशों के बीच एक न एक रूप में सहयोग हो। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है – निरस्त्रीकरण, अस्त्र-नियंत्रण तथा विश्वास की बहाली। निरस्त्रीकरण की माँग होती है कि सभी राज्य चाहे उनका आकार, ताकत और प्रभाव कुछ भी हो, कुछ खास किस्म के हथियारों से बाज आयें। उदाहरण के लिए, 1972 की जैविक हथियार संधि (बॉयोलॉजिकल वीपन्स कंवेंशन BWC) तथा 1992 की रासायनिक हथियार संधि (केमिकल वीपन्स कंवेंशन- CWC) में ऐसे हथियार को बनाना और रखना प्रतिबंधित कर दिया गया है। 155 से ज़्यादा देशों ने BWC संधि पर और 181 देशों ने CWC संधि पर हस्ताक्षर किए हैं। इन दोनों संधियों पर दस्तख़्त करने वालों में सभी महाशक्तियाँ शामिल हैं। लेकिन महाशक्तियाँ – अमरीका तथा सोवियत संघ सामूहिक संहार के अस्त्र यानी परमाण्विक हथियार का विकल्प नहीं छोड़ना चाहती थीं इसलिए दोनों ने अस्त्र-नियंत्रण का सहारा लिया।

अस्त्र नियंत्रण के अंतर्गत हथियारों को विकसित करने अथवा उनको हासिल करने के संबंध में कुछ कायदे-कानूनों का पालन करना पड़ता है। सन् 1972 की एंटी बैलेस्टिक मिसाइल संधि (ABM) ने अमरीका और सोवियत संघ को बैलेस्टिक मिसाइलों को रक्षा-कवच के रूप में इस्तेमाल करने से रोका। ऐसे प्रक्षेपास्त्रों से हमले की शुरुआत की जा सकती थी। संधि में दोनों देशों को सीमित संख्या में ऐसी रक्षा-प्रणाली तैनात करने की अनुमति थी लेकिन इस संधि ने दोनों देशों को ऐसी रक्षा-प्रणाली के व्यापक उत्पादन से रोक दिया।

जैसा कि हमने अध्याय एक में देखा है, अमरीका और सोवियत संघ ने अस्त्र-नियंत्रण की कई अन्य संधियों पर हस्ताक्षर किए जिसमें सामरिक अस्त्र परिसीमन संधि-2 (स्ट्रैटजिक आर्म्स लिमिटेशन ट्रीटी- SALT II) और सामरिक अस्त्र न्यूनीकरण संधि (स्ट्रेटजिक आर्म्स रिडक्शन ट्रीटी-(START) शामिल हैं। परमाणु अप्रसार संधि (न्यूक्लियर नॉन प्रोलिफरेशन ट्रीटी-NPT (1968) भी एक

इस चित्र के भीतर लिखा है – क्या देश पर खतरे के बादल मंडरा रहे हैं? अगर इसमें आप कोई फैसला नहीं कर पा रहे तो गृह रक्षा-विभाग के इस ***आतंकमापी*** *का इस्तेमाल करें। यह मीटर आपको बताता है कि देश पर आतंक का साया कितना घना है। आतंकसूचक सूई को ऊपर दिए गए खानों में से किसी एक पर ले जायें जो आपके जानते मौजूदा खौफ़ की सही तस्वीर पेश करता हो। इससे पता चलेगा कि अमरीकी जनता आतंकी हमले को लेकर कितनी आशंकित है। आतंक हमारे हर तरफ है और वह कभी भी हम पर झपट सकता है। इस* ***आतंकमापी*** *के बूते आपको पता चल जाएगा कि आपको कितना भयभीत रहना है। सावधानीपूर्वक सूई घुमाएँ"*

वाह रे! पहले तो इन लोगों ने ये मारक और महंगे हथियार बनाए, फिर इन हथियारों से खुद को बचाने के लिए ये जटिल संधियाँ कीं। इसे कहते हैं सुरक्षा!

अर्थ में अस्त्र नियंत्रण संधि ही थी क्योंकि इसने परमाण्विक हथियारों के उपार्जन को कायदे-कानून के दायरे में ला खड़ा किया। जिन देशों ने सन् 1967 से पहले परमाणु हथियार बना लिये थे या उनका परीक्षण कर लिया था उन्हें इस संधि के अंतर्गत इन हथियारों को रखने की अनुमति दी गई। जो देश सन् 1967 तक ऐसा नहीं कर पाये थे उन्हें ऐसे हथियारों को हासिल करने के अधिकार से वंचित किया गया। परमाणु अप्रसार संधि ने परमाण्विक आयुधों को समाप्त तो नहीं किया लेकिन इन्हें हासिल कर सकने वाले देशों की संख्या ज़रूर कम की।

सुरक्षा की पारंपरिक धारणा में यह बात भी मानी गई है कि विश्वास बहाली के उपायों से देशों के बीच हिंसाचार कम किया जा सकता है। विश्वास बहाली की प्रक्रिया में सैन्य टकराव और प्रतिद्वन्द्विता वाले देश सूचनाओं तथा विचारों के नियमित आदान-प्रदान का फैसला करते हैं। दो देश एक-दूसरे को अपने फौजी मकसद तथा एक हद तक अपनी सैन्य योजनाओं के बारे में बताते हैं। ऐसा करके ये देश अपने प्रतिद्वन्द्वी को इस बात का आश्वासन देते हैं कि उनकी तरफ से औचक हमले की योजना नहीं बनायी जा रही। देश एक-दूसरे को यह भी बताते हैं कि उनके पास किस तरह के सैन्य-बल हैं। वे यह भी बता सकते हैं कि इन बलों को कहाँ तैनात किया जा रहा है। संक्षेप में कहें तो विश्वासी बहाली की प्रक्रिया यह सुनिश्चित करती है कि प्रतिद्वन्द्वी देश किसी ग़लतफहमी या गफलत में पड़कर जंग के लिए आमादा न हो जाएँ।

कुल मिलाकर देखें तो सुरक्षा की परंपरागत धारणा मुख्य रूप से सैन्य बल के प्रयोग अथवा सैन्य बल के प्रयोग की आशंका से संबद्ध है। सुरक्षा की पारंपरिक धारणा में माना जाता है कि सैन्य बल से सुरक्षा को खतरा पहुँचता है और सैन्य बल से ही सुरक्षा को कायम रखा जा सकता है।

सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा

सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा सिर्फ सैन्य खतरों से संबद्ध नहीं। इसमें मानवीय अस्तित्व पर चोट करने वाले व्यापक खतरों और आशंकाओं को शामिल किया जाता है। इसकी शुरुआत होती है पारंपरिक सुरक्षा की धारणा के भीतर स्वीकार किए गए संदर्भी

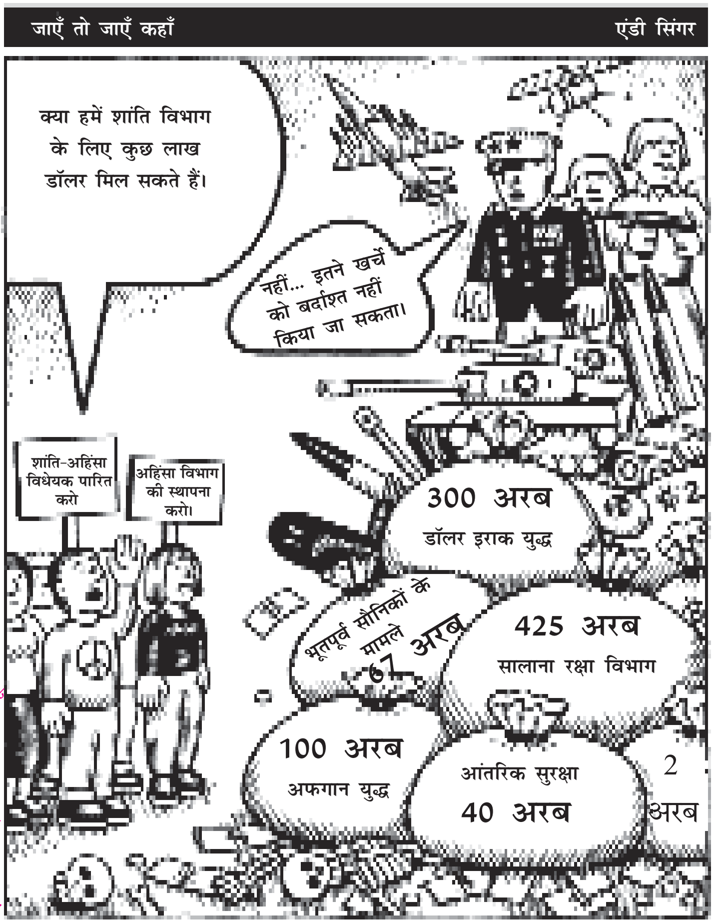

एंडी सिंगर, केगल्स कार्टून

अमरीका में सुरक्षा पर तो भारी-भरकम खर्च होता है जबकि शांति से जुड़े मामलों पर बहुत कम ही खर्च किया जाता है। यह कार्टून इस स्थिति पर एक टिप्पणी करता है। क्या हमारे देश में हालत इससे कुछ अलग है?

(सुरक्षा किसकी?) पर सवाल उठाकर। ऐसा करते हुए सुरक्षा के तीन और तत्त्वों – किन चीजों की सुरक्षा, किन खतरों से सुरक्षा और सुरक्षा के तरीके पर भी प्रश्नचिह्न लगाया जाता है। जब हम संदर्भी की बात करते हैं तो हमारा आशय होता है – 'सुरक्षा किसको चाहिए? सुरक्षा की पारंपरिक धारणा में भूक्षेत्र और संस्थाओं सहित राज्य को संदर्भी माना जाता है। सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा में संदर्भी का दायरा बड़ा होता है। जब हम पूछते हैं कि 'सुरक्षा किसको'? तो सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा के प्रतिपादकों का जवाब होता है – ''सिर्फ राज्य ही नहीं व्यक्तियों और समुदायों या कहें कि समूची मानवता को सुरक्षा की ज़रूरत है।'' इसी कारण सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा को 'मानवता की सुरक्षा' अथवा 'विश्व-रक्षा' कहा जाता है।

मानवता की रक्षा का विचार जनता-जनार्दन की सुरक्षा को राज्यों की सुरक्षा से बढ़कर मानता है। मानवता की सुरक्षा और राज्य की सुरक्षा एक-दूसरे के पूरक होने चाहिए और अक्सर होते भी हैं। लेकिन सुरक्षित राज्य का मतलब हमेशा सुरक्षित जनता नहीं होता। नागरिकों को विदेशी हमले से बचाना भले ही उनकी सुरक्षा की ज़रूरी शर्त्त हो लेकिन इतने भर को पर्याप्त नहीं माना जा सकता। सच्चाई यह है कि पिछले 100 वर्षों में जितने लोग विदेशी सेना के हाथों मारे गए उससे कहीं ज़्यादा लोग खुद अपनी ही सरकारों के हाथों खेत रहे।

मानवता की सुरक्षा के सभी पैरोकार मानते हैं कि इसका प्राथमिक लक्ष्य व्यक्तियों की संरक्षा है। बहरहाल, इस बात पर मतभेद है कि ठीक-ठीक ऐसे कौन-से खतरे हैं जिनसे व्यक्तियों को बचाया जाना चाहिए। मानवता की सुरक्षा का संकीर्ण अर्थ लेने वाले पैरोकारों का जोर व्यक्तियों को हिंसक खतरों यानी खून-खराबे से बचाने पर होता है या संयुक्त राष्ट्रसंघ के भूतपूर्व महासचिव कोफ़ी अन्नान के शब्दों में कहें तो ऐसे पैरोकारों का आशय होता है 'व्यक्तियों और समुदायों को अंदरूनी खून - खराबा से बचाना।' मानवता की सुरक्षा का व्यापक अर्थ लेने वाले पैरोकारों का तर्क है कि खतरों की सूची में अकाल, महामारी और आपदाओं को भी शामिल किया जाना चाहिए क्योंकि युद्ध, जन-संहार और आतंकवाद साथ मिलकर जितने लोगों को मारते हैं उससे कहीं ज़्यादा लोग अकाल, महामारी और प्राकृतिक आपदा की भेंट चढ़ जाते हैं। मानवता की सुरक्षा के व्यापकतम अर्थ में आर्थिक सुरक्षा और मानवीय गरिमा की सुरक्षा को भी शामिल किया जाता है। तनिक अलग अंदाज में कहें तो मानवता की रक्षा के व्यापकतम नज़रिए में जोर 'अभाव से मुक्ति' और 'भय से मुक्ति' पर दिया जाता है।

विश्वव्यापी खतरे जैसे वैश्विक तापवृद्धि (ग्लोबल वार्मिंग), अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद तथा एड्स और बर्ड फ्लू जैसी महामारियों के

अब लग रहा है कि बात हो रही है! इसे ही मैं सचमुच के आदमी के लिए सचमुच की सुरक्षा कहता हूँ।

मानवाधिकारों के उल्लंघन की बात हो तो हम हमेशा बाहर क्यों देखते हैं? क्या हमारे अपने देश में इसके उदाहरण नहीं मिलते?

मद्देनज़र 1990 के दशक में विश्व-सुरक्षा की धारणा उभरी। कोई भी देश इन समस्याओं का समाधान अकेले नहीं कर सकता। ऐसा भी हो सकता है कि किन्हीं स्थितियों में किसी एक देश को इन समस्याओं की मार बाकियों की अपेक्षा ज़्यादा झेलनी पड़े। उदाहरण के लिए, वैश्विक तापवृद्धि से अगर समुद्रतल दो मीटर ऊँचा उठता है तो बांग्लादेश का 20 प्रतिशत हिस्सा डूब जाएगा; कमोबेश पूरा मालदीव सागर में समा जाएगा और थाइलैंड की 50 फीसदी आबादी को खतरा पहुँचेगा। चूँकि इन समस्याओं की प्रकृति वैश्विक है इसलिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है, भले ही इसे हासिल करना मुश्किल हो।

खतरे के नये स्रोत

सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा के दो पक्ष हैं– मानवता की सुरक्षा और विश्व सुरक्षा। ये दोनों सुरक्षा के संदर्भ में खतरों की बदलती प्रकृति पर जोर देते हैं। हम नीचे के खंड में ऐसे कुछ खतरों की चर्चा करेंगे।

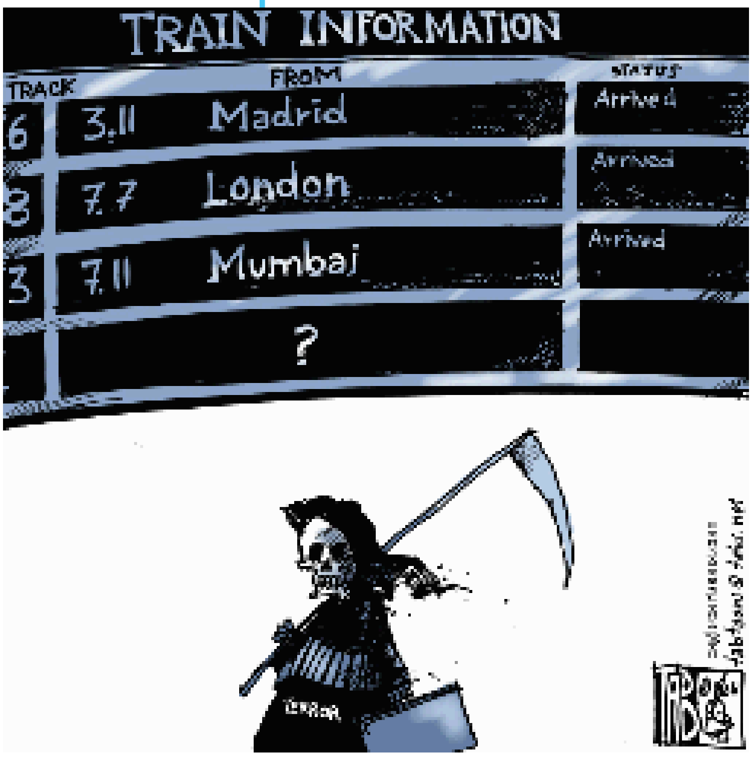

टेब, केगल्स कार्टून

आतंकवाद का आशय राजनीतिक खून-खराबे से है जो जान-बूझकर और बिना किसी मुरौव्वत के नागरिकों को अपना निशाना बनाता है। अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद एक से ज़्यादा देशों में व्याप्त है और उसके निशाने पर कई देशों के नागरिक हैं। कोई राजनीतिक संदर्भ या स्थिति नापसंद हो तो आतंकवादी समूह उसे बल-प्रयोग अथवा बल-प्रयोग की धमकी देकर बदलना चाहते हैं। जनमानस को आतंकित करने के लिए नागरिकों को निशाना बनाया जाता है और आतंकवाद नागरिकों के असंतोष का इस्तेमाल राष्ट्रीय सरकारों अथवा संघर्षों में शामिल अन्य पक्ष के ख़िलाफ करता है।

आतंकवाद के चिर-परिचित उदाहरण हैं विमान-अपहरण अथवा भीड़ भरी जगहों जैसे रेलगाड़ी, होटल, बाज़ार या ऐसी ही अन्य जगहों पर बम लगाना। सन् 2001 के 11 सितंबर को आतंकवादियों ने अमरीका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमला बोला। इस घटना के बाद से दूसरे मुल्क और वहाँ की सरकारें आतंकवाद पर ज़्यादा ध्यान देने लगी हैं। बहरहाल, आतंकवाद कोई नयी परिघटना नहीं है। गुजरे वक्त में आतंकवाद की अधिकांश घटनाएँ मध्यपूर्व, यूरोप, लातिनी अमरीका और दक्षिण एशिया में हुईं।

मानवाधिकार – मानवाधिकार को तीन कोटियों में रखा गया है। हो सकता है आपको लगे कि मानवाधिकारों की इससे कहीं ज़्यादा कोटियाँ हो सकती हैं लेकिन इन तीनों कोटियों से मानवाधिकार विषयक चर्चा की शुरुआत की जा सकती है। पहली कोटि राजनीतिक अधिकारों की है जैसे अभिव्यक्ति और सभा करने की आज़ादी। दूसरी कोटि

आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की है। अधिकारों की तीसरी कोटि में उपनिवेशीकृत जनता अथवा जातीय और मूलवासी अल्पसंख्यकों के अधिकार आते हैं। इस वर्गीकरण को लेकर व्यापक सहमति है लेकिन इस बात पर सहमति नहीं बन पायी है कि इनमें से किस कोटि के अधिकारों को सार्वभौम मानवाधिकारों की संज्ञा दी जाए या इन अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी को क्या करना चाहिए?

1990 के दशक से कुछ घटनाओं मसलन रवांडा में जनसंहार, कुवैत पर इराक का हमला और पूर्वी तिमूर में इंडोनेशियाई सेना के रक्तपात के कारण बहस चल पड़ी है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को मानवाधिकारों के हनन की स्थिति में हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं। कुछ का तर्क है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणापत्र अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी को अधिकार देता है कि वह मानवाधिकारों की रक्षा के लिए हथियार उठाये। दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी हैं जिनका तर्क है कि संभव है, ताकतवर देशों के हितों से यह निर्धारित होता हो कि संयुक्त राष्ट्रसंघ मानवाधिकार-उल्लंघन के किस मामले में कार्रवाई करेगा और किसमें नहीं।

खतरे का एक और स्रोत वैश्विक निर्धनता है। विश्व की जनसंख्या फिलहाल 6 अरब 20 करोड़ है और अगले 25 वर्षो में यह 7 से 8 अरब तक हो जाएगी। संभव है यह आँकड़ा 9-10 अरब तक पहुँच जाए। फिलहाल विश्व की कुल आबादी-वृद्धि का 50 फीसदी सिर्फ 6 देशों - भारत, चीन, पाकिस्तान, नाइजीरिया, बांग्लादेश और इंडोनेशिया में घटित हो रहा है। अनुमान है कि अगले 50 सालों में दुनिया के सबसे गरीब देशों में जनसंख्या तीन गुनी बढ़ेगी जबकि इसी अवधि में अनेक धनी देशों की जनसंख्या घटेगी। प्रति व्यक्ति उच्च आय और जनसंख्या की कम वृद्धि के कारण धनी देश अथवा सामाजिक समूहों को और धनी बनने में मदद मिलती है जबकि प्रति व्यक्ति निम्न आय और जनसंख्या की तीव्र वृद्धि एक साथ मिलकर गरीब देशों और सामाजिक समूहों को और ग़रीब बनाते हैं।

खुशहाली और बदहाली का करीबी रिश्ता
क्या गैर-बराबरी के बढ़ने का सुरक्षा से जुड़े पहलुओं पर कुछ असर पड़ता है?

विश्वस्तर पर यह असमानता उत्तरी गोलार्द्ध के देशों को दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों से अलग करती है। दक्षिण गोलार्द्ध के देशों में असमानता अच्छी-खासी बढ़ी है। यहाँ कुछ देशों ने आबादी की रफ्तार को काबू में किया है और आय को बढ़ाने में सफल रहे हैं जबकि बाकी देश ऐसा नहीं कर पाये हैं। उदाहरण के लिए दुनिया में सबसे ज़्यादा सशस्त्र संघर्ष अफ्रीका के सहारा मरुस्थल के दक्षिणवर्ती देशों में होते हैं। यह इलाका दुनिया का सबसे गरीब इलाका है। 21वीं सदी के शुरुआती समय में इस इलाके के युद्धों में शेष दुनिया की तुलना में कहीं ज़्यादा लोग मारे गए।

दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों में मौजूद गरीबी के कारण अधिकाधिक लोग बेहतर जीवन खासकर आर्थिक अवसरों की तलाश में

आयु-प्रत्याशा

जन्म के समय आयु प्रत्याशा

सहारा मरुस्थल के दक्षिणवर्ती देश – 40 वर्ष

लगभग उन सभी समाजों में जहाँ औसत आयु-प्रत्याशा 70 वर्ष से ज़्यादा है- निजी आय **1000** डॉलर से अधिक है।

फिर भी...

सन 1975 में इन देशों में आयु-प्रत्याशा और आमदनी का एक ब्यौरा

क्यूबा – 70 वर्ष और 540 डॉलर
श्रीलंका – 80 वर्ष और 200 डॉलर
ब्राजील – 61 वर्ष और 750 डॉलर
लीबिया – 53 वर्ष और 3000 डॉलर

ये आँकड़े दिखाते हैं कि किसी देश में आय और सेवाओं का बँटवारा जिस ढंग से होता है उसका गहरा असर समाज के स्वास्थ्य की दशा पर पड़ता है।

शिशु मृत्यु दर

एक वर्ष की उम्र पूरी करने से पहले मृत्यु की चपेट में आने वाले शिशुओं की संख्या

स्वीडन – **1000** से 3
विकसित देश (औसत) – 100 में 1
भारतीय उपमहाद्वीप – 7 में 1
अफ्रीका के कुछ हिस्सों में – 5 से 1

भोजन के अभाव, साफ-सफाई की कमी और अपर्याप्त चिकित्सीय देखभाल की वजहों से बच्चे और शिशु ज़्यादा चपेट में आते हैं।

पाँच वर्ष की आयु पूरी करने से पहले बाल-मृत्यु (%)

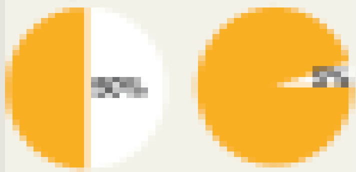

उत्तरी गोलार्द्ध के देशों में प्रवास कर रहे हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक मतभेद उठ खड़ा हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय कायदे कानून आप्रवासी (जो अपनी मर्जी से स्वदेश छोड़ते हैं) और शरणार्थी (जो युद्ध, प्राकृतिक आपदा अथवा राजनीतिक उत्पीड़न के कारण स्वदेश छोड़ने पर मज़बूर होते हैं) में भेद करते हैं। सामान्यतया उम्मीद की जाती है कि कोई राज्य शरणार्थियों को स्वीकार करेगा लेकिन उन्हें आप्रवासियों को स्वीकारने की बाध्यता नहीं होती। शरणार्थी अपनी जन्मभूमि को छोड़ते हैं जबकि जो लोग अपना घर-बार छोड़ चुके हैं परंतु राष्ट्रीय सीमा के भीतर ही हैं उन्हें "आंतरिक रूप से विस्थापित जन" कहा जाता है। 1990 के दशक के शुरुआती सालों में हिंसा से बचने के लिए कश्मीर घाटी छोड़ने वाले कश्मीरी पंडित "आंतरिक रूप से विस्थापित जन" के उदाहरण हैं।

विश्व का शरणार्थी-मानचित्र विश्व के संघर्ष-मानचित्र से लगभग हू-ब-हू मेल खाता है क्योंकि दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों में सशस्त्र संघर्ष और युद्ध के कारण लाखों लोग शरणार्थी बने और सुरक्षित जगह की तलाश में निकले हैं। 1990 से 1995 के बीच सत्तर देशों के मध्य कुल 93 युद्ध हुए और इसमें लगभग साढ़े 55 लाख लोग मारे गये। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति, परिवार और कभी-कभी पूरे समुदाय को सर्वव्याप्त भय अथवा आजीविका, पहचान और जीवन-यापन के परिवेश के नाश के कारण जन्मभूमि छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। युद्ध और शरणार्थियों के प्रवास के आपसी रिश्ते पर नज़र डालने से पता चलता है कि सन् 1990 के दशक में

खुद करें, खुद सोचें

अफ्रीका का एक मानचित्र लीजिए और जनता की सुरक्षा पर मंडराते विभिन्न खतरों को इस मानचित्र पर चिह्नित कीजिए।

कुल 60 जगहों से शरणार्थी प्रवास करने को मजबूर हुए और इसमें तीन को छोड़कर शेष सभी के मूल में सशस्त्र संघर्ष था।

एचआईवी-एड्स, बर्ड फ्लू और सार्स (सिवियर एक्यूट रेसपिरेटॅरी सिंड्रोम- SARS) जैसी महामारियाँ आप्रवास, व्यवसाय, पर्यटन और सैन्य-अभियानों के जरिए बड़ी तेजी से विभिन्न देशों में फैली हैं। इन बीमारियों के फैलाव को रोकने में किसी एक देश की सफलता अथवा असफलता का प्रभाव दूसरे देशों में होने वाले संक्रमण पर पड़ता है।

अनुमान है कि 2003 तक पूरी दुनिया में 4 करोड़ लोग एचआईवी-एड्स से संक्रमित हो चुके थे। इसमें दो-तिहाई लोग अफ्रीका में रहते हैं जबकि शेष के 50 फीसदी दक्षिण एशिया में। उत्तरी अमरीका तथा दूसरे औद्योगिक देशों में उपचार की नयी विधियों के कारण 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध के वर्षों में एचआईवी एड्स से होने वाली मृत्यु की दर में तेजी से कमी आयी है। लेकिन अफ्रीका जैसे ग़रीब इलाके के लिए ये उपचार कीमत को देखते हुए आकाश-कुसुम कहे जाएँगे जबकि अफ्रीका को ज़्यादा गरीब बनाने में एचआईवी-एड्स महत्त्वपूर्ण घटक साबित हुआ है।

एबोला वायरस, हैन्टावायरस और हेपेटाइटिस-सी जैसी कुछ नयी महामारियाँ उभरी हैं जिनके बारे में जानकारी भी कुछ खास नहीं है। टीबी, मलेरिया, डेंगी बुखार और हैजा जैसी पुरानी महामारियों ने औषधि-प्रतिरोधक रूप धारण कर लिया है और इससे इनका उपचार कठिन हो गया है। जानवरों में महामारी फैलने के भारी आर्थिक दुष्प्रभाव होते हैं। 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध के सालों से ब्रिटेन ने 'मैड-काऊ' महामारी के भड़क उठने के कारण अरबों डॉलर का नुकसान उठाया है और बर्ड फ्लू के कारण कई दक्षिण एशियाई देशों को मुर्ग-निर्यात बंद करना पड़ा। ऐसी महामारियाँ बताती हैं कि देशों के बीच पारस्पारिक निर्भरता बढ़ रही है और राष्ट्रीय सीमाएँ अब पहले की तुलना में कम सार्थक रह गई हैं। इन महामारियों का संकेत है कि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने की ज़रूरत है।

सुरक्षा की धारणा में विस्तार करने का यह मतलब नहीं है कि हम हर तरह के कष्ट या बीमारी को सुरक्षा विषयक चर्चा के दायरे में शामिल कर सकते हैं। अगर हम ऐसा करते हैं तो सुरक्षा की धारणा में संगति नहीं रह जाती। ऐसे में हर चीज सुरक्षा का मसला हो सकती है। इसी कारण किसी मसले को सुरक्षा का मसला कहलाने के लिए एक सर्व स्वीकृत न्यूनतम मानक पर खरा उतरना ज़रूरी है। मिसाल के लिए, अगर किसी मसले से संदर्भी (राज्य अथवा जनसमूह) के अस्तित्व को खतरा हो रहा हो तो उसे सुरक्षा का मसला कहा जा सकता है चाहे इस खतरे की प्रकृति कुछ भी हो। उदाहरण के लिए मालदीव को

यहाँ जो मुद्दे दिखाए गए हैं उनसे दुनिया कैसे उबरे?

उन देशों के नाम जहाँ से बड़ी संख्या में शरणार्थी दूसरे देशों में गए।
2006 में 10 बड़े शरणार्थी समूह

मूलदेश		आश्रय के लिए गंतव्य		कुल
अफ़गानिस्तान	–	पाकिस्तान, ईरान, जर्मनी, नीदरलैंड ब्रिटेन	–	1908100
सूडान	–	चाड, यूगांडा, केन्या, ईथोपिया मध्य अफ्रीकी गणराज्य	–	69300
काँगो लोकतांत्रिक	–	तंजानिया, जांबिया, कांगो रवांडा, यूगांडा	–	430600
सोमालिया	–	केन्या, यमन, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, ईथोपिया	–	394800
वियतनाम	–	चीन, जर्मनी, अमरीका	–	358200
फिलीस्तीन	–	सऊदी अरब, मिस्र, इराक लीबिया, अल्जीरिया	–	349700
इराक	–	ईरान, जर्मनी, नीदरलैंड सीरिया, ब्रिटेन	–	262100
अज़रबैजान	–	आर्मेनिया, जर्मनी, अमरीका, नीदरलैंड, फ्रांस	–	262100
लाइबेरिया	–	सियरा लियोन, गयाना, कोटलआरे, घाना, अमरीका	–	231100

www.unher.org से साभार

वैश्विक तापवृद्धि से खतरा हो सकता है क्योंकि समुद्र तल के ऊँचा उठने से इसका ज़्यादातर हिस्सा डूब जाएगा जबकि दक्षिणी अफ्रीकी देशों में एचआईवी-एड्स से गंभीर खतरा है क्योंकि यहाँ हर 6 वयस्क व्यक्ति में एक इस रोग (बोस्तवाना की हालत सबसे बदतर है। वहाँ 3 में से एक व्यक्ति एचआई-एड्स पीड़ित है) से पीड़ित है। 1994 में रवांडा की तुत्सी जनजाति के अस्तित्व पर खतरा मंडराया क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी हुतु जनजाति ने कुछ ही हफ्तों में लगभग 5 लाख तुत्सी लोगों को मार डाला। इससे पता चलता है कि सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा भी सुरक्षा की पारंपरिक धारणा के समान स्थानीय संदर्भों के अनुकूल परिवर्तनशील है।

एरेस, केगल्स कार्टून

अंधा विश्व

सहयोगमूलक सुरक्षा

हमने देखा कि सुरक्षा पर मंडराते इन अनेक अपारंपरिक ख़तरों से निपटने के लिए सैन्य-संघर्ष की नहीं बल्कि आपसी सहयोग की ज़रूरत है। आतंकवाद से लड़ने अथवा मानवाधिकारों को बहाल करने में भले ही सैन्य-बल की कोई भूमिका हो (और यहाँ भी सैन्य-बल एक सीमा तक ही कारगर हो सकता है) लेकिन गरीबी मिटाने, तेल तथा बहुमूल्य धातुओं की आपूर्ति बढ़ाने, आप्रवासियों और शरणार्थियों की आवाजाही के प्रबंधन तथा महामारी के नियंत्रण में सैन्य-बल से क्या मदद मिलेगी यह कहना मुश्किल है। वस्तुत: ऐसे अधिकांश मसलों में सैन्य-बल के प्रयोग से मामला और बिगड़ेगा।

ज़्यादा प्रभावी यही होगा कि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से रणनीतियाँ तैयार की जायँ। सहयोग द्विपक्षीय (दो देशों के बीच), क्षेत्रीय, महादेशीय अथवा वैश्विक स्तर का हो सकता है। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि खतरे की प्रकृति क्या है और विभिन्न देश इससे निबटने के लिए कितने इच्छुक तथा सक्षम हैं। सहयोगमूलक सुरक्षा में विभिन्न देशों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय-राष्ट्रीय स्तर की अन्य संस्थाएँ जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन (संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्व स्वास्थ्य संगठन, विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि) स्वयंसेवी संगठन (एमनेस्टी इंटरनेशनल, रेड क्रॉस, निजी संगठन तथा दानदाता संस्थाएँ, चर्च और धार्मिक संगठन, मज़दूर संगठन, सामाजिक और विकास

संगठन) व्यवसायिक संगठन और निगम तथा जानी-मानी हस्तियाँ (जैसे नेल्सन मंडेला, मदर टेरेसा) शामिल हो सकती हैं।

सहयोग मूलक सुरक्षा में भी अंतिम उपाय के रूप में बल-प्रयोग किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी उन सरकारों से निबटने के लिए बल-प्रयोग की अनुमति दे सकती है जो अपनी ही जनता को मार रही हों अथवा गरीबी, महामारी और प्रलयंकारी घटनाओं की मार झेल रही जनता के दुख-दर्द की उपेक्षा कर रही हो। ऐसी स्थिति में सुरक्षा की अपारंपरिक धारणा का जोर होगा कि बल-प्रयोग सामूहिक स्वीकृति से और सामूहिक रूप में किया जाए न कि कोई एक देश अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी और स्वयंसेवी संगठनों समेत अन्यों की मर्जी पर कान दिए बगैर बल प्रयोग का रास्ता अख्तियार करे।

भारत – सुरक्षा की रणनीतियाँ

भारत को पारंपरिक (सैन्य) और अपारंपरिक खतरों का सामना करना पड़ा है। ये खतरे सीमा के अंदर से भी उभरे और बाहर से भी। भारत की सुरक्षा-नीति के चार बड़े घटक हैं और अलग-अलग वक्त में इन्हीं घटकों के हेर-फेर से सुरक्षा की रणनीति बनायी गई है।

सुरक्षा-नीति का पहला घटक रहा सैन्य-क्षमता को मज़बूत करना क्योंकि भारत पर पड़ोसी देशों से हमले होते रहे हैं। पाकिस्तान ने 1947-48, 1965, 1971 तथा 1999 में और चीन ने सन् 1962 में भारत पर हमला किया। दक्षिण एशियाई इलाके में भारत के चारों तरफ परमाणु हथियारों से लैस देश हैं। ऐसे में भारत के परमाणु परीक्षण करने के फ़ैसले (1998) को उचित ठहराते हुए भारतीय सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा का तर्क दिया था। भारत ने सन् 1974 में पहला परमाणु परीक्षण किया था।

भारत की सुरक्षा नीति का दूसरा घटक है अपने सुरक्षा हितों को बचाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय कायदों और संस्थाओं को मज़बूत करना। भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने एशियाई एकता, अनौपनिवेशीकरण (Decolonisation) और निरस्त्रीकरण के प्रयासों की हिमायत की। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों में संयुक्त राष्ट्रसंघ को अंतिम पंच मानने पर जोर दिया। भारत ने हथियारों के अप्रसार के संबंध में एक सार्वभौम और बिना भेदभाव वाली नीति चलाने की पहलकदमी की जिसमें हर देश को सामूहिक संहार के हथियारों (परमाणु, जैविक, रासायनिक) से संबद्ध बराबर के अधिकार और दायित्व हों। भारत ने नव-अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग उठायी और सबसे बड़ी बात यह कि दो महाशक्तियों की खेमेबाजी से अलग उसने गुटनिरपेक्षता के रूप में विश्व-शांति का तीसरा विकल्प सामने रखा। भारत उन 160 देशों में शामिल है जिन्होंने 1997 के क्योटो प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर किए हैं। क्योटो प्रोटोकॉल में वैश्विक तापवृद्धि पर काबू रखने के लिए ग्रीनहाऊस गैसों के उत्सर्जन को कम करने के संबंध में दिशा निर्देश बताए गए हैं। सहयोगमूलक सुरक्षा की पहलकदमियों के समर्थन में भारत ने अपनी सेना संयुक्त राष्ट्रसंघ के शांतिबहाली के मिशनों में भेजी है।

भारत की सुरक्षा रणनीति का तीसरा घटक है देश की अंदरूनी सुरक्षा-समस्याओं से निबटने की तैयारी। नगालैंड, मिजोरम, पंजाब और कश्मीर जैसे क्षेत्रों से कई उग्रवादी समूहों ने समय-समय पर इन प्रांतों को भारत से अलगाने की कोशिश की। भारत ने राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था का पालन किया है। यह व्यवस्था विभिन्न समुदाय और जन-समूहों को

मुझे यह सुनकर अच्छा लगता है कि मेरे देश के पास परमाण्विक हथियार हैं लेकिन कोई मुझे यह समझाए कि क्या इससे मैं ज़्यादा सुरक्षित हो गया हूँ- क्या मेरा परिवार ज़्यादा सुरक्षित हो गया है?

खुद करें, खुद सीखें

परंपरागत सुरक्षा और अपरंपरागत सुरक्षा के अंतर्गत भारत सरकार द्वारा किए जाने वाले खर्च की तुलना करें।

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- नदी के किनारे बसे इन चार गाँवों की एक काल्पनिक स्थिति का वर्णन करें।

  नदी के किनारे चार गाँव कोटाबाग, गेवली, कंडली और गोप्पा आसपास बसे हैं। कोटाबाग गाँव के लोग नदी के किनारे सबसे पहले आकर बसे। इलाके के प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों तक उनकी अबाध पहुँच थी। धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों के लोग इस इलाके में आने लगे क्योंकि यहाँ पानी और प्राकृतिक संसाधन बहुतायत में उपलब्ध थे। अब यहाँ चार गाँव हैं। समय गुजरने के साथ इन गाँवों की आबादी भी बढ़ी लेकिन संसाधन नहीं बढ़े। हर गाँव ने अपनी सीमा रेखा और उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों पर दावेदारी जतानी शुरू की। कोटाबाग गाँव के लोग इस इलाके में सबसे पहले आकर बसे थे इसलिए वे संसाधनों में ज़्यादा हिस्सा चाहते थे। कंडली और गेवली गाँव के लोगों का कहना था कि हमारे गाँव की आबादी बाकियों की तुलना में ज़्यादा है इसलिए हमें ज़्यादा हिस्सा चाहिए। गोप्पा गाँव के लोगों का कहना था कि हम लोग रईसी की ज़िंदगी जीते हैं इसलिए हमें ज़्यादा बड़ा हिस्सा मिलना चाहिए भले ही हमारे गाँव की जनसंख्या कम हो। चारों गाँव के लोग एक-दूसरे की माँग से असहमत थे और संसाधनों का इस्तेमाल अपनी मनमर्जी से कर रहे थे। इस वजह से गाँववालों के बीच बराबर झगड़े होने लगे। धीरे-धीरे लोग इस स्थिति से तंग आ गए और उनका चैन जाता रहा। अब इन चारों गाँव के लोग उसी तरह जीना चाहते हैं जैसे बरसों पहले वे जी रहे थे लेकिन उन्हें नहीं पता कि इस स्वर्णयुग में कैसे लौटा जाए।

  प्रत्येक गाँव की विशेषता का वर्णन करते हुए एक संक्षिप्त नोट तैयार करें। यह वर्णन ऐसा हो कि उससे आज के राष्ट्रों की वास्तविक प्रकृति की झलक मिलती हो।

- कक्षा को चार समूह में बाँटें। हर समूह एक गाँव का प्रतिनिधित्व करे। गाँवों की विशेषता का वर्णन करने वाला एक-एक संक्षिप्त नोट हर समूह को दें। जिस समूह को जो नोट मिले वह उसी गाँव की विशेषता को धारण करे।
- पुराने दिनों की तरह किस प्रकार रहा जाए – इस विषय पर चर्चा के लिए अध्यापक प्रत्येक समूह को कुछ समय (15 मिनट) दे। प्रत्येक समूह अपनी रणनीति तय करे।
- गाँवों के नुमाइंदों के रूप में सभी समूह किसी समाधान तक पहुँचने के लिए आपस में मुक्त भाव से चर्चा करें (20 मिनट)। प्रत्येक समूह अपने तर्क रखे और दूसरे के तर्कों का प्रत्युत्तर दे। परिणाम कुछ इस प्रकार का होगा; एक मैत्रीपूर्ण समझौता जिसमें सबकी माँगों का ध्यान रखा गया हो। ऐसा शायद ही कभी होता है। या, पूरी बहस बगैर किसी मकसद को साधे खत्म हो जाएगी।

अध्यापकों के लिए

- गाँवों को राष्ट्र के रूप में वर्णित करें और सुरक्षा/खतरे की समस्याओं को भौगोलिक क्षेत्र/अखंडता, प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच/विद्रोह आदि से जोड़ें।
- समूहों के बीच जब बातचीत हो रही थी तो आपने जो कुछ देखा उसके बारे में बात कीजिए और समझाइए कि विभिन्न राष्ट्र भी ऐसे मसलों पर इसी तरह बातचीत करते हैं।
- विभिन्न राष्ट्रों के भीतर और विभिन्न राष्ट्रों के बीच अभी जो सुरक्षा के मसले मौजूद हैं उनमें कुछ का हवाला देते हुए इस अभ्यास को समाप्त किया जा सकता है।

अपनी शिकायतों को खुलकर रखने और सत्ता में भागीदारी करने का मौका देती है।

आखिर में एक बात यह कि भारत में अर्थव्यवस्था को इस तरह विकसित करने के प्रयास किए गए हैं कि बहुसंख्यक नागरिकों को गरीबी और अभाव से निज़ात मिले तथा नागरिकों के बीच आर्थिक असमानता ज़्यादा न हो। ये प्रयास ज़्यादा सफल नहीं हुए हैं। हमारा देश अब भी गरीब है और असमानताएँ मौजूद हैं। फिर भी, लोकतांत्रिक राजनीति से ऐसे अवसर उपलब्ध हैं कि गरीब और वंचित नागरिक अपनी आवाज़ उठा सकें। लोकतांत्रिक रीति से निर्वाचित सरकार के ऊपर दबाव होता है कि वह आर्थिक संवृद्धि को मानवीय विकास का सहगामी बनाए। इस प्रकार, लोकतंत्र सिर्फ़ राजनीतिक आदर्श नहीं है; लोकतांत्रिक शासन जनता को ज़्यादा सुरक्षा मुहैया कराने का साधन भी है। इस संदर्भ में भारतीय लोकतंत्र की सफलता और असफलताओं के बारे में आप एक और किताब में विस्तार से पढ़ेंगे। यह किताब स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति पर केंद्रित है।

प्रश्नावली

1. निम्नलिखित पदों को उनके अर्थ से मिलाएँ
   (1) विश्वास बहाली के उपाय (कॉन्फिडेंस बिल्डिंग मेजर्स - CBMs)
   (2) अस्त्र-नियंत्रण
   (3) गठबंधन
   (4) निरस्त्रीकरण
   (क) कुछ खास हथियारों के इस्तेमाल से परहेज
   (ख) राष्ट्रों के बीच सुरक्षा-मामलों पर सूचनाओं के आदान-प्रदान की नियमित प्रक्रिया
   (ग) सैन्य हमले की स्थिति से निबटने अथवा उसके अपरोध के लिए कुछ राष्ट्रों का आपस में मेल करना।
   (घ) हथियारों के निर्माण अथवा उनको हासिल करने पर अंकुश

2. निम्नलिखित में से किसको आप सुरक्षा का परंपरागत सरोकार/सुरक्षा का अपारंपरिक सरोकार/'खतरे की स्थिति नहीं' का दर्ज़ा देंगे –
   (क) चिकेनगुनिया/डेंगू बुखार का प्रसार
   (ख) पड़ोसी देश से कामगारों की आमद
   (ग) पड़ोसी राज्य से कामगारों की आमद
   (घ) अपने इलाके को राष्ट्र बनाने की माँग करने वाले समूह का उदय
   (ङ) अपने इलाके को अधिक स्वायत्तता दिए जाने की माँग करने वाले समूह का उदय।
   (च) देश की सशस्त्र सेना को आलोचनात्मक नज़र से देखने वाला अखबार।

3. परंपरागत और अपारंपरिक सुरक्षा में क्या अंतर है? गठबंधनों का निर्माण करना और उनको बनाये रखना इनमें से किस कोटि में आता है?

4. तीसरी दुनिया के देशों और विकसित देशों की जनता के सामने मौजूद खतरों में क्या अंतर है?

5. आतंकवाद सुरक्षा के लिए परंपरागत खतरे की श्रेणी में आता है या अपरंपरागत?

प्रश्नावली

6. सुरक्षा के परंपरागत दृष्टिकोण के हिसाब से बताएँ कि अगर किसी राष्ट्र पर खतरा मंडरा रहा हो तो उसके सामने क्या विकल्प होते हैं?
7. 'शक्ति-संतुलन' क्या है? कोई देश इसे कैसे कायम करता है?
8. सैन्य गठबंधन के क्या उद्देश्य होते हैं? किसी ऐसे सैन्य गठबंधन का नाम बताएँ जो अभी मौजूद है। इस गठबंधन के उद्देश्य भी बताएँ?
9. पर्यावरण के तेजी से हो रहे नुकसान से देशों की सुरक्षा को गंभीर खतरा पैदा हो गया है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? उदाहरण देते हुए अपने तर्कों की पुष्टि करें।
10. देशों के सामने फिलहाल जो खतरे मौजूद हैं उनमें परमाण्विक हथियार का सुरक्षा अथवा अपरोध के लिए बड़ा सीमित उपयोग रह गया है। इस कथन का विस्तार करें।
11. भारतीय परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए किस किस्म की सुरक्षा को वरीयता दी जानी चाहिए – पारंपरिक या अपारंपरिक? अपने तर्क की पुष्टि में आप कौन-से उदाहरण देंगे?
12. नीचे दिए गए कार्टून को समझें। कार्टून में युद्ध और आतंकवाद का जो संबंध दिखाया गया है उसके पक्ष या विपक्ष में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

एस. केगल्स कार्टून

अध्याय 8

पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधन

1992 के पृथ्वी सम्मेलन ने पर्यावरण को विश्व राजनीति के प्रमुख मुद्दों में शामिल करा दिया। यहाँ दिए गए चित्रों में वर्षा के वन और गरान (मेनग्रोव्स) देखे जा सकते हैं।

परिचय

इस अध्याय में विश्व-राजनीति में पर्यावरण और संसाधनों के बढ़ते महत्त्व की चर्चा की गई है। 1960 के दशक से पर्यावरण के मसले ने जोर पकड़ा। इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर इस अध्याय में कुछ महत्त्वपूर्ण पर्यावरण-आंदोलनों की तुलनात्मक चर्चा की गई है। हम साझी संपदा और 'विश्व की साझी विरासत' जैसी धारणाओं के बारे में भी पढ़ेंगे। इस अध्याय को पढ़कर आप संक्षेप में जान सकते हैं कि पर्यावरण से जुड़ी हाल की बहसों में भारत ने कौन-सा पक्ष लिया है। इसके बाद अध्याय में संसाधनों की होड़ से जुड़ी वैश्विक राजनीति की एक संक्षिप्त चर्चा की गई है। अध्याय का समापन यह बताते हुए किया गया है कि समकालीन विश्व-राजनीति में हाशिए पर खड़ी मूलवासी जनता (Indigenous people) के इन सवालों से क्या सरोकार हैं और वह क्या सोचती है।

जंगल के सवाल पर राजनीति, पानी के सवाल पर राजनीति और वायुमंडल के मसले पर राजनीति! फिर, किस बात में राजनीति नहीं है!

वैश्विक राजनीति में पर्यावरण की चिंता क्यों?

इस पुस्तक में हमने विश्व-राजनीति पर बड़े सीमित अर्थों में चर्चा की है, मसलन हमने युद्ध और संधि की बातें कीं; राज्यशक्ति के उत्थान और पतन की चर्चा हुई या फिर हमने अंतर्राष्ट्रीय फलक पर अपने देश की नुमाइंदगी करने वाली सरकारों और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की बातें कीं। अध्याय सात में हमने विश्व-राजनीति के दायरे को थोड़ा बढ़ाकर उसमें गरीबी और महामारी जैसे विषय भी शामिल कर लिए हैं। ऐसा करने में कोई मुश्किल भी नहीं क्योंकि हम सब मानते हैं कि गरीबी और महामारी पर अंकुश रखने की जिम्मेदारी सरकार की है। इस अर्थ में ये मुद्दे विश्व-राजनीति के दायरे में ही आते हैं। अब ज़रा इन मुद्दों पर विचार कीजिए। क्या आप मानते हैं कि इन जैसे मुद्दे समकालीन विश्व-राजनीति के दायरे में आते हैं?

अराल के आसपास बसे हज़ारों लोगों को अपना घर-बार छोड़ना पड़ा क्योंकि पानी के विषाक्त होने से मत्स्य-उद्योग नष्ट हो गया। जहाजरानी उद्योग और इससे जुड़े तमाम कामकाज खत्म हो गए। पानी में नमक की सांद्रता के ज़्यादा बढ़ जाने से पैदावार कम हो गई। अनेक अनुसंधान हुए लेकिन इस समस्या का समाधान न हो सका। दरअसल इस जगह मज़ाक-मज़ाक में लोग एक-दूसरे से कहते हैं कि जितने लोग सागर के अध्ययन के लिए आये वे अगर एक-एक बाल्टी पानी भी लाते तो यह सागर भर गया होता। (अराल सागर की अवस्थिति देखने समझने के लिए पृष्ठ 24 पर दिए मानचित्र को देखें।

स्रोत: *www.gobartimes.org*

- दुनिया भर में कृषि-योग्य भूमि में अब कोई बढ़ोत्तरी नहीं हो रही जबकि मौजूदा उपजाऊ जमीन के एक बड़े हिस्से की उर्वरता कम हो रही है। चारागाहों के चारे खत्म होने को हैं और मत्स्य-भंडार घट रहा है। जलाशयों की जलराशि बड़ी तेजी से कम हुई है उसमें प्रदूषण बढ़ा है। इससे खाद्य- उत्पादन में कमी आ रही है।
- संयुक्त राष्ट्रसंघ की विश्व विकास रिपोर्ट (2006) के अनुसार विकासशील देशों की एक अरब बीस करोड़ जनता को स्वच्छ जल उपलब्ध नहीं होता और यहाँ की दो अरब साठ करोड़ आबादी साफ-सफाई की सुविधा से वंचित हैं। इस वज़ह से 30 लाख से ज़्यादा बच्चे हर साल मौत के शिकार होते हैं।
- प्राकृतिक वन जलवायु को संतुलित रखने में मदद करते हैं, इनसे जलचक्र भी संतुलित बना रहता है और इन्हीं वनों में धरती की जैव-विविधता का भंडार भरा रहता है लेकिन ऐसे वनों की कटाई हो रही है और लोग विस्थापित हो रहे हैं। जैव-विविधता की हानि जारी है और इसका कारण है उन पर्यावासों का विध्वंस जो जैव-प्रजातियों के मामले में समृद्ध हैं।
- धरती के ऊपरी वायुमंडल में ओज़ोन गैस की मात्रा में लगातार कमी हो रही है। इसे ओज़ोन परत में छेद होना भी कहते हैं। इससे पारिस्थितिकी तंत्र और मनुष्य के स्वास्थ्य पर एक बड़ा खतरा मंडरा रहा है।
- पूरे विश्व में समुद्रतटीय क्षेत्रों का प्रदूषण भी बढ़ रहा है। यद्यपि समुद्र का मध्यवर्ती भाग अब भी अपेक्षाकृत स्वच्छ है लेकिन

इसका तटवर्ती जल जमीनी क्रियाकलापों से प्रदूषित हो रहा है। पूरी दुनिया में समुद्रतटीय इलाकों में मनुष्यों की सघन बसाहट जारी है और इस प्रवृति पर अंकुश न लगा तो समुद्री पर्यावरण की गुणवत्ता में भारी गिरावट आएगी।

आपको लग सकता है कि ये तो नैसर्गिक घटनाएँ हैं और इनका अध्ययन राजनीति विज्ञान की जगह भूगोल वाली कक्षा में किया जाना चाहिए। लेकिन ज़रा फिर से सोचिए। पर्यावरण के नुकसान से जुड़े जिन मसलों की चर्चा ऊपर की गई है उन पर अंकुश रखने के लिए अगर विभिन्न देशों की सरकारें कदम उठाती हैं तो इन मसलों की परिणति इस अर्थ में राजनीतिक होगी। इन मसलों में अधिकांश ऐसे हैं कि किसी एक देश की सरकार इनका पूरा समाधान अकेले दम पर नहीं कर सकती। इस वजह से ये मसले विश्व-राजनीति का हिस्सा बन जाते हैं। बहरहाल, पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों के मसले एक और गहरे अर्थ में राजनीतिक हैं। कौन पर्यावरण को नुकसान पहुँचाता है? इस पर रोक लगाने के उपाय करने की जिम्मेदारी किसकी है? धरती के प्राकृतिक संसाधनों पर किसको कितने इस्तेमाल का हक है? इन सवालों के जवाब बहुधा इस बात से निर्धारित होते हैं कि कौन देश कितना ताकतवर है। इस तरह ये मसले गहरे अर्थों में राजनीतिक हैं।

हालाँकि पर्यावरण से जुड़े सरोकारों का लंबा इतिहास है लेकिन आर्थिक विकास के कारण पर्यावरण पर होने वाले असर की चिंता ने 1960 के दशक के बाद से राजनीतिक चरित्र ग्रहण किया। वैश्विक मामलों से सरोकार रखने वाले एक विद्वत् समूह 'क्लब ऑव रोम' ने 1972 में 'लिमिट्स टू ग्रोथ' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की। यह पुस्तक दुनिया की

वैश्विक तापवृद्धि

यहाँ अंगुलियों को चिमनी और विश्व को एक लाईटर के रूप में दिखाया गया है। ऐसा क्यों?

बढ़ती जनसंख्या के आलोक में प्राकृतिक संसाधनों के विनाश के अंदेशे को बड़ी खूबी से बताती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) सहित अनेक अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने पर्यावरण से जुड़ी समस्याओं पर सम्मेलन कराये और इस विषय पर अध्ययन को बढ़ावा देना शुरू किया। इस प्रयास का उद्देश्य पर्यावरण की समस्याओं पर ज़्यादा कारगर और सुलझी हुई पहलकदमियों की शुरुआत करना था। तभी से पर्यावरण वैश्विक राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण मसला बन गया।

1992 में संयुक्त राष्ट्रसंघ का पर्यावरण और विकास के मुद्दे पर केंद्रित एक सम्मेलन, ब्राजील के रियो डी जनेरियो में हुआ। इसे पृथ्वी सम्मेलन (Earth Summit) कहा जाता है। इस सम्मेलन में 170 देश, हज़ारों स्वयंसेवी संगठन तथा अनेक बहुराष्ट्रीय निगमों ने भाग लिया। वैश्विक राजनीति के दायरे में पर्यावरण को लेकर बढ़ते सरोकारों को इस

खुद करें, खुद सीखें

अपने पास-पड़ोस की ऐसी खबरों की कतरनें जुटाएँ जिनमें पर्यावरण और राजनीति के बीच संबंध दिखाई देता हो।

एस. केगल्स कार्टून

क्या पृथ्वी की सुरक्षा को लेकर धनी और गरीब देशों के नज़रिए में अंतर है?

सम्मेलन में एक ठोस रूप मिला। इस सम्मेलन से पाँच साल पहले (1987) 'अवर कॉमन फ्यूचर' शीर्षक बर्टलैंड रिपोर्ट छपी थी। रिपोर्ट में चेताया गया था कि आर्थिक विकास के चालू तौर-तरीके आगे चलकर टिकाऊ साबित नहीं होंगे। विश्व के दक्षिणी हिस्से में औद्योगिक विकास की माँग ज़्यादा प्रबल है और रिपोर्ट में इसी हवाले से चेतावनी दी गई थी। रियो-सम्मेलन में यह बात खुलकर सामने आयी कि विश्व के धनी और विकसित देश यानी उत्तरी गोलार्द्ध तथा गरीब और विकासशील देश यानी दक्षिणी गोलार्द्ध पर्यावरण के अलग-अलग अजेंडे के पैरोकार हैं। उत्तरी देशों की मुख्य चिंता ओज़ोन परत की छेद और वैश्विक तापवृद्धि (ग्लोबल वर्मिंग) को लेकर थी। दक्षिणी देश आर्थिक विकास और पर्यावरण प्रबंधन के आपसी रिश्ते को सुलझाने के लिए ज़्यादा चिंतित थे।

रियो-सम्मेलन में जलवायु-परिवर्तन, जैव-विविधता और वानिकी के संबंध में कुछ नियमाचार निर्धारित हुए। इसमें 'अजेंडा-21' के रूप में विकास के कुछ तौर-तरीके भी सुझाए गए। लेकिन इसके बाद भी आपसी अंतर और कठिनाइयाँ बनी रहीं। सम्मेलन में इस बात पर सहमति बनी कि आर्थिक वृद्धि का तरीका ऐसा होना चाहिए कि इससे पर्यावरण को नुकसान न पहुँचे। इसे 'टिकाऊ विकास' का तरीका कहा गया। लेकिन समस्या यह थी कि 'टिकाऊ विकास' पर अमल कैसे किया जाएगा। कुछ आलोचकों का कहना है कि 'अजेंडा-21' का झुकाव पर्यावरण संरक्षण को सुनिश्चित करने के बजाय आर्थिक वृद्धि की ओर है। आइए, अब पर्यावरण की वैश्विक राजनीति के कुछ विवादित मुद्दों पर एक नज़र डालते हैं।

विश्व की साझी संपदा की सुरक्षा

साझी संपदा उन संसाधनों को कहते हैं जिन पर किसी एक का नहीं बल्कि पूरे समुदाय का अधिकार होता है। संयुक्त परिवार का चूल्हा, चारागाह, मैदान, कुआँ या नदी साझी संपदा के उदाहरण हैं। इसी तरह विश्व के कुछ हिस्से और क्षेत्र किसी एक देश के संप्रभु क्षेत्राधिकार से बाहर होते हैं। इसीलिए उनका प्रबंधन साझे तौर पर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा किया जाता है। इन्हें 'वैश्विक संपदा' या

अंटार्कटिका पर किसका स्वामित्व है?

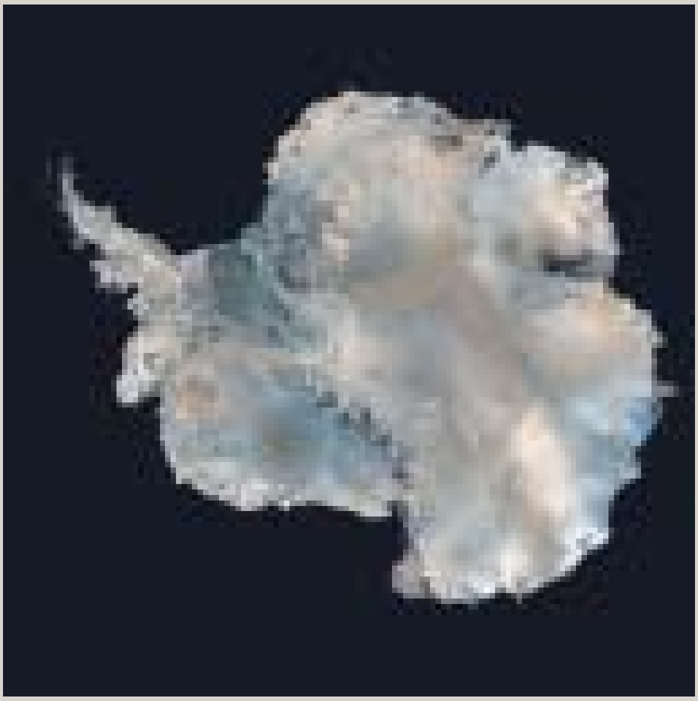

अंटार्कटिक महादेशीय इलाका 1 करोड़ 40 लाख वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है। विश्व के निर्जन क्षेत्र का 26 प्रतिशत हिस्सा इसी महादेश के अंतर्गत आता है। स्थलीय हिम का 90 प्रतिशत हिस्सा और धरती पर मौजूद स्वच्छ जल का 70 प्रतिशत हिस्सा इस महादेश में मौजूद है। अंटार्कटिक महादेश का 3 करोड़ 60 लाख वर्ग किलोमीटर तक अतिरिक्त विस्तार समुद्र में है। सीमित स्थलीय जीवन वाले इस महादेश का समुद्री पारिस्थितिकी-तंत्र अत्यंत उर्वर है जिसमें कुछ पादप (सूक्ष्म शैवाल, कवक और लाइकेन), समुद्री स्तनधारी जीव, मत्स्य तथा कठिन वातावरण में जीवनयापन के लिए अनुकूलित विभिन्न पक्षी शामिल हैं। इसमें क्रिल मछली भी शामिल है जो समुद्री आहार शृंखला की धुरी है और जिस पर दूसरे जानवरों का आहार निर्भर है। अंटार्कटिक प्रदेश विश्व की जलवायु को संतुलित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस महादेश की अंदरूनी हिमानी परत ग्रीन हाऊस गैस के जमाव का महत्त्वपूर्ण सूचना-स्रोत है। साथ ही, इससे लाखों बरस पहले के वायुमंडलीय तापमान का पता किया जा सकता है।

विश्व के सबसे सुदूर ठंढे और झंझावाती महादेश अंटार्कटिका पर किसका स्वामित्व है? इसके बारे में दो दावे किये जाते हैं। कुछ देश जैसे – ब्रिटेन, अर्जेन्टीना, चिले, नार्वे, फ्रांस, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ने अंटार्कटिक क्षेत्र पर अपने संप्रभु अधिकार का वैधानिक दावा किया। अन्य अधिकांश देशों ने इससे उलटा रुख अपनाया कि अंटार्कटिक प्रदेश विश्व की साझी संपदा है और यह किसी भी देश के क्षेत्राधिकार में शामिल नहीं है। इस मतभेद के रहते अंटार्कटिका के पर्यावरण और पारिस्थितिकी तंत्र की सुरक्षा के नियम बने और अपनाये गए। ये नियम कल्पनाशील और दूरगामी प्रभाव वाले हैं। अंटार्कटिका और पृथ्वी के ध्रुवीय क्षेत्र पर्यावरण-सुरक्षा के विशेष क्षेत्रीय नियमों के अंतर्गत आते हैं।

1959 के बाद इस इलाके में गतिविधियाँ वैज्ञानिक अनुसंधान, मत्स्य आखेट और पर्यटन तक सीमित रही हैं। लेकिन इतनी कम गतिविधियों के बावजूद इस क्षेत्र के कुछ हिस्से अवशिष्ट पदार्थ जैसे तेल के रिसाव के दबाव में अपनी गुणवत्ता खो रहे हैं।

'मानवता की साझी विरासत' कहा जाता है। इसमें पृथ्वी का वायुमंडल, अंटार्कटिका, समुद्री सतह और बाहरी अंतरिक्ष शामिल हैं।

'वैश्विक संपदा' की सुरक्षा के सवाल पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग कायम करना टेढ़ी खीर है। इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण समझौते जैसे अंटार्कटिका संधि (1959), मांट्रियल न्यायाचार (प्रोटोकॉल 1987) और अंटार्कटिका पर्यावरणीय न्यायाचार (1991) हो चुके हैं। पारिस्थितिकी से जुड़े हर मसले के साथ एक बड़ी समस्या यह जुड़ी है कि अपुष्ट वैज्ञानिक साक्ष्यों और समय-सीमा को लेकर मतभेद पैदा होते हैं। ऐसे में एक सर्व-सामान्य पर्यावरणीय अजेंडा पर सहमति कायम करना मुश्किल

बहुत जल्दी ही हमें सुनने को मिलेगा कि चंद्रमा का पर्यावरण भी नष्ट हो गया है।

1970 के दशक में अफ्रीका की सबसे बड़ी विपदाओं में एक थी अनावृष्टि। इसके कारण पाँच देशों की उपजाऊ जमीन बंजर हो गई और उसमें दरार पड़ गई। दरअसल पर्यावरणीय शरणार्थी जैसा अटपटा शब्द इसी घटना के बाद प्रचलित हुआ। खेती-किसानी के असंभव हो जाने के कारण अनेक लोगों को घर-बार छोड़ना पड़ा।

स्रोत: *www.gobartimes.org*

होता है। इस अर्थ में 1980 के दशक के मध्य में अंटार्कटिका के ऊपर ओजोन परत में छेद की खोज एक आँख खोल देने वाली घटना है।

ठीक इसी तरह वैश्विक संपदा के रूप में बाहरी अंतरिक्ष के इतिहास से भी पता चलता है कि इस क्षेत्र के प्रबंधन पर उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों के बीच मौजूद असमानता का असर पड़ा है। धरती के वायुमंडल और समुद्री सतह के समान यहाँ भी महत्त्वपूर्ण मसला प्रौद्योगिकी और औद्योगिक विकास का है। यह एक ज़रूरी बात है क्योंकि बाहरी अंतरिक्ष में जो दोहन-कार्य हो रहे हैं उनके फायदे न तो मौजूदा पीढ़ी में सबके लिए बराबर हैं और न आगे की पीढ़ियों के लिए।

खुद करें, खुद सोचें

क्योटो प्रोटोकॉल के बारे में और अधिक जानकारी एकत्र करें। किन बड़े देशों ने इस पर दस्तखत नहीं किए और क्यों?

साझी परंतु अलग-अलग ज़िम्मेदारियाँ

ऊपर हमने देखा कि पर्यावरण को लेकर उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों के रवैये में अंतर है। उत्तर के विकसित देश पर्यावरण के मसले पर उसी रूप में चर्चा करना चाहते हैं जिस दशा में पर्यावरण आज मौजूद है। ये देश चाहते हैं कि पर्यावरण के संरक्षण में हर देश की जिम्मेदारी बराबर हो। दक्षिण के विकासशील

देशों का तर्क है कि विश्व में पारिस्थितिकी को नुकसान अधिकांशतया विकसित देशों के औद्योगिक विकास से पहुँचा है। यदि विकसित देशों ने पर्यावरण को ज़्यादा नुकसान पहुँचाया है तो उन्हें इस नुकसान की भरपाई की जिम्मेदारी भी ज़्यादा उठानी चाहिए। इसके अलावा, विकासशील देश अभी औद्योगीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं और ज़रूरी है कि उन पर वे प्रतिबंध न लगें जो विकसित देशों पर लगाये जाने हैं। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण कानून के निर्माण, प्रयोग और व्याख्या में विकासशील देशों की विशिष्ट ज़रूरतों का ध्यान रखा जाना चाहिए। सन् 1992 में हुए पृथ्वी सम्मेलन में इस तर्क को मान लिया गया और इसे 'साझी परंतु अलग-अलग जिम्मेदारियाँ' का सिद्धांत कहा गया।

इस संदर्भ में रियो-घोषणापत्र का कहना है कि – "धरती के पारिस्थितिकी तंत्र की अखंडता और गुणवत्ता की बहाली, सुरक्षा तथा संरक्षण के लिए विभिन्न देश विश्व-बंधुत्व की भावना से आपस में सहयोग करेंगे। पर्यावरण के विश्वव्यापी अपक्षय में विभिन्न राज्यों का योगदान अलग-अलग है। इसे देखते हुए विभिन्न राज्यों की 'साझी परंतु अलग-अलग जिम्मेदारियाँ' होंगी। विकसित देशों के समाजों का वैश्विक पर्यावरण पर दबाव ज़्यादा है और इन देशों के पास विपुल प्रौद्योगिक एवं वित्तीय संसाधन हैं। इसे देखते हुए टिकाऊ विकास के अंतर्राष्ट्रीय प्रयास में विकसित देश अपनी ख़ास जिम्मेदारी स्वीकार करते हैं।"

जलवायु के परिवर्तन से संबंधित संयुक्त राष्ट्रसंघ के नियमाचार यानी यूनाइटेड नेशंस फ्रेमवर्क कंवेंशन ऑन क्लाइमेट चेंज (UNFCCC-1992) में भी कहा गया है कि इस संधि को स्वीकार करने वाले देश अपनी क्षमता के अनुरूप, पर्यावरण के अपक्षय में अपनी हिस्सेदारी के आधार पर साझी परंतु अलग-अलग ज़िम्मेदारियाँ निभाते हुए पर्यावरण की सुरक्षा के प्रयास करेंगे। इस नियमाचार को स्वीकार करने वाले देश इस बात पर सहमत थे कि ऐतिहासिक रूप से भी और मौजूदा समय में भी ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन में सबसे ज़्यादा हिस्सा विकसित देशों का है। यह बात भी मानी गई कि विकासशील देशों का प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन अपेक्षाकृत कम है। इस कारण चीन, भारत और अन्य विकासशील देशों को क्योटो-प्रोटोकॉल की बाध्यताओं से अलग रखा गया है। क्योटो प्रोटोकॉल एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता है। इसके अंतर्गत औद्योगिक देशों के लिए ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन को कम करने के लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं। कार्बन डाइऑक्साइड, मीथेन और हाइड्रो-फ्लोरो कार्बन जैसी कुछ गैसों के बारे में माना जाता है कि वैश्विक तापवृद्धि (ग्लोबल वार्मिंग) में इनकी कोई-न-कोई भूमिका ज़रूर है। ग्लोबल वार्मिंग की परिघटना में विश्व का तापमान बढ़ता है और धरती के जीवन के लिए यह बात बड़ी प्रलयंकारी साबित होगी। जापान के क्योटो में 1997 में इस प्रोटोकॉल पर सहमति बनी। 1992 में इस समझौते के लिए कुछ सिद्धांतों तय किए गए थे और सिद्धांत की इस रूपरेखा यानी यूनाइटेड नेशन्स फ्रेमवर्क कंवेंशन ऑन क्लाइमेट चेंज पर सहमति जताते हुए हस्ताक्षर हुए थे। क्योटो प्रोटोकॉल पर इन्हीं सिद्धांतों के आलोक में सहमति बनी।

साझी संपदा

साझी संपदा का अर्थ होता है ऐसी संपदा जिस पर किसी समूह के प्रत्येक सदस्य का स्वामित्व हो। इसके पीछे मूल तर्क यह है कि

यह ज़ायज सिद्धांत है! हमारे देश में जारी आरक्षण की नीति की तरह! है न?

लोग कहते हैं कि लातिनी अमरीका में एक नदी बेच दी गई। साझी संपदा कैसे बेची जा सकती है?

ऐसे संसाधन की प्रकृति, उपयोग के स्तर और रख-रखाव के संदर्भ में समूह के हर सदस्य को समान अधिकार प्राप्त होंगे और समान उत्तरदायित्व निभाने होंगे। उदाहरण के लिए, सदियों के चलन और आपसी समझदारी से भारत के ग्रामीण समुदायों ने साझी संपदा के संदर्भ में अपने सदस्यों के अधिकार और दायित्व तय किए हैं। निजीकरण, गहनतर खेती, आबादी की वृद्धि और पारिस्थितिकी तंत्र की गिरावट समेत कई कारणों से पूरी दुनिया में साझी संपदा का आकार घट रहा है, उसकी गुणवत्ता और गरीबों को उसकी उपलब्धता कम हो रही है। राजकीय स्वामित्व वाली वन्यभूमि में पावन माने जाने वाले वन-प्रांतर के वास्तविक प्रबंधन की पुरानी व्यवस्था साझी संपदा के रख-रखाव और उपभोग का ठीक-ठीक उदाहरण है। दक्षिण भारत के वन-प्रदेशों में विद्यमान पावन वन-प्रांतरों का प्रबंधन परंपरानुसार ग्रामीण समुदाय करता आ रहा है।

पर्यावरण के मसले पर भारत का पक्ष

भारत ने 2002 में क्योटो प्रोटोकॉल (1997) पर हस्ताक्षर किए और इसका अनुमोदन किया। भारत, चीन और अन्य विकासशील देशों को क्योटो प्रोटोकॉल की बाध्यताओं से छूट दी गई है क्योंकि औद्योगीकरण के दौर में ग्रीनहाऊस गैसों के उत्सर्जन के मामले में इनका कुछ ख़ास योगदान नहीं था। औद्योगीकरण के दौर को मौजूदा वैश्विक तापवृद्धि और जलवायु-परिवर्तन का जिम्मेदार माना जाता है। बहरहाल, क्योटो प्रोटोकॉल के आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि अन्य विकासशील देशों सहित भारत और

भारत के पावन वन-प्रांतर

बहुत से पुराने समाजों में धार्मिक कारणों से प्रकृति की रक्षा करने का चलन है। भारत में विद्यमान 'पावन वन-प्रांतर' इस चलन के सुंदर उदाहरण हैं। इस प्रथा में वनों के कुछ हिस्सों को काटा नहीं जाता। इन स्थानों पर देवता अथवा किसी पुण्यात्मा का वास माना जाता है। इन्हें ही 'पावन वन-प्रांतर' या 'देवस्थान' कहा जाता है। इन पावन वन-प्रांतरों के देशव्यापी फैलाव का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि देशभर की भाषाओं में इनके लिए अलग-अलग शब्द हैं। इन देवस्थानों को राजस्थान में वानी, केंकड़ी और ओरान; झारखंड में जहेरा थान और सरना; मेघालय में लिंगदोह; केरल में काव; उत्तराखंड में थान या देवभूमि और महाराष्ट्र में देव रहतिस आदि सैकड़ों नामों से जाना जाता है। पर्यावरण-संरक्षण से जुड़े साहित्य में 'देवस्थान' के महत्त्व को अब स्वीकार किया जा रहा है और इसे समुदाय आधारित संसाधन-प्रबंधन के रूप में देखा जा रहा है। 'देवस्थान' को हम ऐसी व्यवस्था के रूप में देख सकते हैं जिसके अंतर्गत पुराने समाज प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल इस तरह करते हैं कि पारिस्थितिकी तंत्र का संतुलन बना रहे। कुछ अनुसंधानकर्त्ताओं का विश्वास है कि 'देवस्थान' की मान्यता से जैव-विविधता और पारिस्थितिकी-संरक्षण में ही नहीं सांस्कृतिक वैविध्य को भी कायम रखने में मदद मिल सकती है। 'देवस्थान' की व्यवस्था वन-संरक्षण के विभिन्न तौर-तरीकों से संपन्न है और इस व्यवस्था की विशेषताएँ साझी संपदा के संरक्षण की व्यवस्था से मिलती-जुलती हैं। 'देवस्थान' के महत्त्व का परंपरागत आधार ऐसे क्षेत्र की आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं। हिंदू समवेत रूप से प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा करते हैं जिसमें पेड़ और वन-प्रान्तर भी शामिल हैं। बहुत-से मंदिरों का निर्माण 'देवस्थान' में हुआ है। संसाधनों की विरलता नहीं प्रकृति के प्रति गहरी श्रद्धा ही वह आधार थी जिसने इतने युगों से वनों को बचाए रखने की प्रतिबद्धता कायम रखी। बहरहाल, हाल के सालों में मनुष्यों की बसाहट के विस्तार ने धीरे-धीरे ऐसे 'देवस्थानों' पर अपना कब्ज़ा कर लिया है।

नयी राष्ट्रीय वन-नीतियों के आने के साथ कई जगहों पर इन परंपरागत वनों की पहचान मंद पड़ने लगी है। 'देवस्थान' के प्रबंधन में एक कठिन समस्या तब आती है जब ऐसे स्थान का कानूनी स्वामित्व एक के पास हो और व्यावहारिक नियंत्रण किसी दूसरे के हाथ में हो यानी कानूनी स्वामित्व राज्य का हो और व्यावहारिक नियंत्रण समुदाय के हाथ में। इन दोनों के नीतिगत मानक अलग-अलग हैं और 'देवस्थान' के उपयोग के उद्देश्यों में भी इनके बीच कोई मेल नहीं।

गोबर टाइम्स के पोस्टर पर आधारित

चीन भी जल्दी ही ग्रीनहाऊस गैसों के उत्सर्जन के मामले में विकसित देशों की भाँति अगली कतार में नज़र आयेंगे। 2005 के जून में ग्रुप-8 के देशों की बैठक हुई। इसमें भारत ने ध्यान दिलाया कि विकासशील देशों में ग्रीन हाऊस गैसों की प्रति व्यक्ति उत्सर्जन दर विकसित देशों की तुलना में नाममात्र है। साझी परंतु अलग-अलग ज़िम्मेदारियों के सिद्धांत के अनुरूप भारत का विचार है कि उत्सर्जन-दर में कमी करने की सबसे ज़्यादा ज़िम्मेवारी विकसित देशों की है क्योंकि इन देशों ने एक लंबी अवधि तक बहुत ज़्यादा उत्सर्जन किया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के जलवायु-परिवर्तन से संबंधित बुनियादी नियमाचार UNFCCC) के अनुरूप भारत पर्यावरण से जुड़े अंतर्राष्ट्रीय मसलों में ज़्यादातर ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का तर्क रखता है। इस तर्क के अनुसार ग्रीनहाऊस गैसों के रिसाव की ऐतिहासिक और मौजूदा जवाबदेही ज़्यादातर विकसित देशों की है। इसमें जोर देकर कहा गया है कि 'विकासशील देशों की पहली और अपरिहार्य प्राथमिकता आर्थिक तथा सामाजिक विकास की है।' हाल में संयुक्त राष्ट्रसंघ के इस नियमाचार (UNFCCC) के अंतर्गत चर्चा चली कि तेजी से औद्योगिक होते देश (जैसे ब्राजील, चीन और भारत) नियमाचार की बाध्यताओं का पालन करते हुए ग्रीनहाऊस गैसों के उत्सर्जन को कम करें। भारत इस बात

मैं समझ गया! पहले उन लोगों ने धरती को बर्बाद किया और अब धरती को चौपट करने की हमारी बारी है। क्या यही है हमारा पक्ष?

के खिलाफ है। उसका मानना है कि यह बात इस नियमाचार की मूल भावना के विरुद्ध है। भारत पर इस तरह की बाध्यता आयद करना अनुचित भी है। भारत में 2030 तक कार्बन का प्रति व्यक्ति उत्सर्जन बढ़ने के बावजूद विश्व के (सन् 2000) के औसत (3.8 टन प्रति व्यक्ति) के आधे से भी कम होगा। 2000 तक भारत का प्रति व्यक्ति उत्सर्जन 0. 9 टन था और अनुमान है कि 2030 तक यह मात्रा बढ़कर 1.6 टन प्रतिव्यक्ति हो जाएगी।

भारत की सरकार विभिन्न कार्यक्रमों के जरिए पर्यावरण से संबंधित वैश्विक प्रयासों में शिरकत कर रही है। मिसाल के लिए भारत ने अपनी नेशनल ऑटो-फ्यूल पॉलिसी' के अंतर्गत वाहनों के लिए स्वच्छतर ईंधन अनिवार्य कर दिया है। 2001 में ऊर्जा-संरक्षण अधिनियम पारित हुआ। इसमें ऊर्जा के ज़्यादा कारगर इस्तेमाल की पहलकदमी की गई है। ठीक इसी तरह 2003 के बिजली अधिनियम में पुनर्नवा (Renewable) ऊर्जा के इस्तेमाल को बढ़ावा दिया गया है। हाल में प्राकृतिक गैस के आयात और स्वच्छ कोयले के उपयोग पर आधारित प्रौद्योगिकी को अपनाने की तरफ रुझान बढ़ा है। इससे पता चलता है कि भारत पर्यावरण सुरक्षा के लिहाज से ठोस कदम उठा रहा है। भारत बायोडीजल से संबंधित एक राष्ट्रीय मिशन चलाने के लिए भी तत्पर है। इसके अंतर्गत 2011-12 तक बायोडीजल तैयार होने लगेगा और इसमें 1 करोड़ 10 लाख हेक्टेयर भूमि का इस्तेमाल होगा। पुनर्नवीकृत होने वाली ऊर्जा के सबसे बड़े कार्यक्रमों में से एक भारत में चल रहा है।

भारत ने पृथ्वी-सम्मेलन (रियो) के समझौतों के क्रियान्वयन का एक पुनरावलोकन 1997 में किया। इसका मुख्य निष्कर्ष यह था कि विकासशील देशों को रियायती शर्तों पर नये और अतिरिक्त वित्तीय संसाधन तथा पर्यावरण के संदर्भ में बेहतर साबित होने वाली प्रौद्योगिकी मुहैया कराने की दिशा में कोई सार्थक प्रगति नहीं हुई है। भारत इस बात को ज़रूरी मानता है कि विकसित देश विकासशील देशों को वित्तीय संसाधन तथा स्वच्छ प्रौद्योगिकी मुहैया कराने के लिए तुरंत उपाय करें ताकि विकासशील देश 'फ्रेमवर्क कन्वेन्शन ऑन क्लाइमेट चेंज' की मौजूदा प्रतिबद्धताओं को पूरा कर सकें। भारत का यह भी मानना है कि 'दक्षेस' (SAARC) में शामिल देश पर्यावरण के प्रमुख वैश्विक मसलों पर एक समान राय बनायें ताकि इस क्षेत्र की आवाज़ वज़नी हो सके।

पर्यावरण आंदोलन – एक या अनेक

पर्यावरण हानि की चुनौतियों से निबटने के लिए सरकारों ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जो पेशकदमी की है हम उस के बारे में जान चुके हैं। लेकिन इन चुनौतियों के मद्देनज़र कुछ महत्त्वपूर्ण पेशकदमियाँ सरकारों की तरफ से नहीं बल्कि विश्व के विभिन्न भागों में सक्रिय पर्यावरण के प्रति सचेत कार्यकर्ताओं ने की हैं। इन कार्यकर्ताओं में कुछ तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर और बाकी स्थानीय स्तर पर सक्रिय हैं। आज पूरे विश्व में पर्यावरण आंदोलन सबसे ज़्यादा जीवंत, विविधतापूर्ण तथा ताकतवर सामाजिक आंदोलनों में शुमार किए जाते हैं। सामाजिक चेतना के दायरे में ही राजनीतिक कार्रवाई के नये रूप जन्म लेते हैं या उन्हें खोजा जाता है। इन आंदोलनों से नए विचार निकलते हैं। इन आंदोलनों ने हमें दृष्टि दी है कि वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के लिए आगे के दिनों में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यहाँ कुछ उदाहरणों की चर्चा की जा रही है जिससे पता चलता है

कि मौजूदा पर्यावरण आंदोलनों की एक मुख्य विशेषता उनकी विविधता है।

दक्षिणी देशों मसलन मैक्सिको, चिले, ब्राज़ील, मलेशिया, इंडोनेशिया, महादेशीय अफ्रीका और भारत के वन-आंदोलनों पर बहुत दबाव है। तीन दशकों से पर्यावरण को लेकर सक्रियता का दौर जारी है। इसके बावजूद तीसरी दुनिया के विभिन्न देशों में वनों की कटाई खतरनाक गति से जारी है। पिछले दशक में विश्व के विशालतम वनों का विनाश बढ़ा है।

खनिज-उद्योग पृथ्वी पर मौजूद सबसे ताकतवर उद्योगों में एक है। वैश्विक अर्थव्यवस्था में उदारीकरण के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध के अनेक देशों की अर्थव्यवस्था बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए खुल चुकी हैं। खनिज उद्योग धरती के भीतर मौजूद संसाधनों को बाहर निकालता है, रसायनों का भरपूर उपयोग

खुद करें, खुद सीखें

चिपको आंदोलन के बारे में और जानकारी जुटाएं।

क्या वन निर्जन होते हैं?

दक्षिणी देशों के वन-आंदोलन उत्तरी देशों के वन-आंदोलनों से एक खास अर्थ में भिन्न हैं। दक्षिणी देशों के वन निर्जन नहीं हैं जबकि उत्तरी गोलार्द्ध के देशों के वन जनविहीन हैं या कहें कि इन देशों में वन को निर्जन प्रांत के रूप में देखा जाता है। इसी वजह से उत्तरी देशों में वनभूमि को निर्जन भूमि का दर्जा दिया गया है यानी ऐसी जगह जहाँ लोग नहीं रहते-बसते। यह दृष्टिकोण मनुष्य को प्रकृति का हिस्सा नहीं मानता। दूसरे शब्दों में कहें तो यह दृष्टिकोण पर्यावरण को मनुष्य से दूर की चीज मानता है यानी एक ऐसी चीज जिसे बाग-बगीचे या अभयारण्य में तब्दील कर मनुष्यों से बचाया जाना चाहिए। दूसरी तरफ, दक्षिणी देशों में पर्यावरण के अधिकांश मसले इस मान्यता पर आधारित हैं कि लोग वनों में भी रहते हैं।

वनों को विजनपन का प्रतीक मानने का दृष्टिकोण ऑस्ट्रेलिया, स्कैंडिनेविया, उत्तरी अमरीका और न्यूज़ीलैंड में हावी है। अधिकांश यूरोपीय देशों के विपरीत इन इलाकों में 'अविकसित निर्जन वन-क्षेत्र' अपेक्षाकृत ज्यादा हैं। इसका यह मतलब नहीं कि दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों में 'विजनपन' का अभियान एकदम नदारद है। फिलीपिन्स में 'हरित-संगठनों' (Green Organisations) ने गरुड़ तथा अन्य शिकारी पक्षियों को विलुप्त होने से बचाने के लिए मुहिम चलायी। भारत में 'बंगाल-टाइगर' को बचाने की मुहिम चल रही है क्योंकि इनकी संख्या लुप्त होने की हद तक कम हो चली थी। अफ्रीका में हाथीदाँत के व्यापार और हाथियों को निर्दयतापूर्वक मारने के विरुद्ध लंबा अभियान चलाया गया। विजनपन के कुछ प्रसिद्ध संघर्ष ब्राजील और इंडोनेशिया के जंगलों में छिड़े हैं। इन सभी अभियानों का ध्यान किसी ख़ास प्रजाति को बचाने पर रहा है साथ ही इनका जोर निर्जन वन-पर्यावासों को संरक्षण देने पर है। ऐसे पर्यावासों से जंतु-प्रजातियों को कायम रखने में मदद मिलती है। विजनपन से जुड़े अनेक मसलों को हाल के दिनों में जैव-विविधता के मसलों का रूप दिया गया है क्योंकि दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों में विजनपन की अवधारणा को स्वीकृति मिलना कठिन है। इनमें से अनेक अभियानों की शुरुआत और वित्तीय मदद वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फंड (WWF) जैसे संगठनों ने की। ऐसे प्रयासों में स्थानीय लोगों की मदद भी ली गई।

क्या आप पर्यावरणविदों के प्रयास से सहमत हैं? पर्यावरणविदों को यहाँ जिस रूप में चित्रित किया गया है क्या आपको वह सही लगता है?

एस. केगल्स कार्टून

बांग्लादेश के उत्तर-पूर्वी जिले दिनाजपुर के शहर फुलवाड़ी में एक पूरा-का-पूरा समुदाय कोयला खनन परियोजना के विरोध में उठ खड़ा हुआ। इस चित्र में अनेक महिलायें प्रस्तावित कोयला परियोजना के विरोध में नारे लगा रही हैं। इस चित्र में एक स्त्री अपने बच्चे को सीने से लगाए हुए खड़ी है।

करता है; भूमि और जलमार्गों को प्रदूषित करता है और स्थानीय वनस्पतियों का विनाश करता है। इसके कारण जन-समुदायों को विस्थापित होना पड़ता है। कई बातों के साथ इन कारणों से विश्व के विभिन्न भागों में खनिज-उद्योग की आलोचना और विरोध हुआ है।

इसका एक अच्छा उदाहरण फिलीपिन्स है जहाँ कई समूहों और संगठनों ने एक साथ मिलकर एक ऑस्ट्रेलियाई बहुराष्ट्रीय कंपनी 'वेस्टर्न माइनिंग कारपोरेशन' के खिलाफ अभियान चलाया। इस कंपनी का विरोध खुद इसके स्वदेश यानी ऑस्ट्रेलिया में हुआ। इस विरोध के पीछे परमाण्विक शक्ति के मुख़ालफत की भावनाएँ काम कर रही हैं। ऑस्ट्रेलिया में इस कंपनी का विरोध आस्ट्रेलियाई आदिवासियों के बुनियादी अधिकारों की पैरोकारी के कारण भी किया जा रहा है।

कुछ आंदोलन बड़े बाँधों के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। अब बाँध-विरोधी आंदोलन को नदियों को बचाने के आंदोलनों के रूप में देखने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है क्योंकि ऐसे आंदोलन में नदियों और नदी-घाटियों के ज़्यादा टिकाऊ तथा न्यायसंगत प्रबंधन की बात उठायी जाती है। 1980 के दशक के शुरुआती और मध्यवर्ती वर्षों में विश्व का पहला बाँध-विरोधी आंदोलन दक्षिणी गोलार्द्ध में चला। आस्ट्रेलिया में चला यह आंदोलन फ्रैंकलिन नदी तथा इसके परिवर्ती वन को बचाने का आंदोलन था। यह वन और विजनपन की पैरोकारी करने वाला आंदोलन था ही, बाँध-विरोधी आंदोलन भी था।

फिलहाल दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों में तुर्की से लेकर थाईलैंड और दक्षिण अफ्रीका तक तथा इंडोनेशिया से लेकर चीन तक बड़े बाँधों को बनाने की होड़ लगी है। भारत में बाँध-विरोधी और नदी हितैषी कुछ अग्रणी आंदोलन चल रहे हैं। इन आंदोलनों में नर्मदा आंदोलन सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध है। यह बात ध्यान देने की है कि भारत में बाँध विरोधी तथा पर्यावरण-बचाव के अन्य आंदोलन एक अर्थ में समानधर्मी हैं क्योंकि ये अहिंसा पर आधारित हैं।

संसाधनों की भू-राजनीति

"किसे, क्या, कब, कहाँ और कैसे हासिल होता है" – 'संसाधनों की भू-राजनीति' इन्हीं सवालों से जूझती है। यूरोपीय ताकतों के विश्वव्यापी प्रसार का एक मुख्य साधन और मकसद संसाधन रहे हैं। संसाधनों को लेकर राज्यों के बीच तनातनी हुई है। संसाधनों से जुड़ी भू-राजनीति को पश्चिमी दुनिया ने ज़्यादातर व्यापारिक संबंध, युद्ध तथा ताकत के संदर्भ में सोचा। इस सोच के मूल में था विदेश में संसाधनों की मौजूदगी तथा समुद्री नौवहन में दक्षता। समुद्री नौवहन स्वयं इमारती लकड़ियों पर आधारित था इसलिए जहाज की शहतीरों के लिए इमारती लकड़ियों की आपूर्ति 17वीं सदी से बाद के समय में प्रमुख यूरोपीय शक्तियों की प्राथमिकताओं में रही। पहले और दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सामरिक संसाधनों, खासकर तेल की निर्बाध आपूर्ति का महत्त्व बहुत अच्छी तरह उजागर हो गया।

पूरे शीतयुद्ध के दौरान उत्तरी गोलार्द्ध के विकसित देशों ने इन संसाधनों की सतत् आपूर्ति के लिए कई तरह के कदम उठाये। इसके अंतर्गत संसाधन-दोहन के इलाकों तथा समुद्री परिवहन-मार्गों के इर्द-गिर्द सेना की तैनाती, महत्त्वपूर्ण संसाधनों का भंडारण, संसाधनों के उत्पादक देशों में मनपसंद सरकारों की

बहाली तथा बहुराष्ट्रीय निगमों और अपने हितसाधक अंतर्राष्ट्रीय समझौतों को समर्थन देना शामिल है। पश्चिमी देशों के राजनीतिक चिंतन का केंद्रीय सरोकार यह था कि संसाधनों तक पहुँच अबाध रूप से बनी रहे क्योंकि सोवियत संघ इसे खतरे में डाल सकता था। एक बड़ी चिंता यह भी थी कि खाड़ी के देशों में मौजूद तेल तथा दक्षिणी और पश्चिमी एशिया के देशों में मौजूद खनिज पर विकसित देशों का नियंत्रण बरकरार रहे। शीतयुद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन के बाद सरकारों की मौजूदा चिंता सुरक्षित आपूर्ति को बनाए रखने की है। अनेक खनिज़ ख़ासकर रेडियोधर्मी खनिज़ों से जुड़े व्यावसायिक फ़ैसलों को लेकर भी सरकारों को चिंता सताती है। बहरहाल, वैश्विक रणनीति में तेल लगातार सबसे महत्त्वपूर्ण संसाधन बना हुआ है।

बीसवीं सदी के अधिकांश समय में विश्व की अर्थव्यवस्था तेल पर निर्भर रही। यह एक जगह से दूसरी जगह तक पहुँचाए जा सकने वाले ईंधन के रूप में अपरिहार्य बना रहा। तेल के साथ विपुल संपदा जुड़ी है और इसी कारण इस पर कब्ज़ा जमाने के लिए राजनीतिक संघर्ष छिड़ता है। पेट्रोलियम का इतिहास युद्ध और संघर्षों का भी इतिहास है। यह बात पश्चिम एशिया और मध्य एशिया में सबसे स्पष्ट रूप से नज़र आती है। पश्चिम एशिया, ख़ासकर खाड़ी-क्षेत्र विश्व के कुल तेल-उत्पादन का 30 प्रतिशत मुहैया कराता है। इस क्षेत्र में विश्व के ज्ञात तेल-भंडार का 64 प्रतिशत हिस्सा मौजूद है और इस कारण यही एकलौता क्षेत्र है जो तेल की माँग में ख़ास बढ़ोत्तरी होने पर उसकी पूर्ति कर सकता है। सऊदी अरब के पास विश्व के कुल तेल-भंडार का एक चौथाई हिस्सा मौजूद है। सऊदी अरब विश्व में सबसे बड़ा

जाएँ तो जाएँ कहाँ — **एंडी सिंगर**

एण्डी सिंगर, केगल्स कार्टून

तेल-उत्पादक देश है। इराक का ज्ञात तेल-भंडार सऊदी अरब के बाद दूसरे नंबर पर है। इराक के एक बड़े हिस्से में तेल-भंडारों की मौजूदगी को लेकर खोज-बीन अभी नहीं हुई है। संभावना है कि इराक का तेल-भंडार 112 अरब बैरल से कहीं ज़्यादा हो। संयुक्त राज्य अमरीका, यूरोप, जापान तथा चीन और भारत में इस तेल की खपत होती है लेकिन ये देश इस इलाके से बहुत दूरी पर हैं।

विश्व-राजनीति के लिए पानी एक और महत्त्वपूर्ण संसाधन है। विश्व के कुछ भागों में साफ पानी की कमी हो रही है। साथ ही, विश्व के हर हिस्से में स्वच्छ जल समान मात्रा में मौजूद नहीं है। इस कारण, संभावना है कि साझे जल-संसाधन को लेकर पैदा

तेल देखो, तेल की धार देखो...!!

हमारे जीवन में पेट्रोलियम पर आधारित उत्पादों की कड़ी अंतहीन है। टूथपेस्ट, पेसमेकर, पेंट, स्याही...। दुनिया को परिवहन के लिए जितनी ऊर्जा की ज़रूरत पड़ती है उसका 95 फीसदी पेट्रोलियम से ही पूरा होता है। पूरी औद्योगिक दुनिया पेट्रोलियम के बूते टिकी है। हम इसके बिना जीवन की कल्पना नहीं कर सकते। हालाँकि जमीन के नीचे अभी अरबों बैरल तेल हमारे इस्तेमाल के इंतजार में पड़ा है फिर भी देशों के बीच विवाद है।

मैं काला सोना मुल्क के शाही ख़ानदान से हूँ। मैं ही हूँ वह शख़्स जिसे लोग धनकुबेर कहते हैं। जबसे मेरे मुल्क में काला सोना मिला है, मेरी सल्तनत में करामात हो रहे हैं। जनाब बिग ऑयल और उनकी हुकूमत यहाँ एक रोज़ बड़ा ख़ज़ाना खोजने आई। हमने तेल खोजा और सौदा पटा लिया। इन लोगों ने मुझे हथियार दिए। इतने हथियार कि उनका बोझ मुझे ही भारी लगने लगा है। हथियारों से लदा-फँदा मैं जब कभी दाँत निपोरता हूँ तो लोग अवाक् रह जाते हैं। उन लोगों ने हथियार दिए और बदले में मैंने बिग ऑयल और उसके बेटे-पोतों को तेल और अपनी वफ़ादारी दी। मैं खुशहाल और मालदार हूँ और वे भी मस्ती और मजे में हैं। अगर उनकी फ़ौज मेरे मुल्क में गश्त कर रही है तो करे, मुझे क्या?

बेशकीमती चीजों की मैं कद्र करता हूँ। बिग ऑयल कहते हैं कि उनके राष्ट्रपति आज़ादी और जम्हूरियत को बड़ा कीमती मानते हैं इसीलिए मैंने भी अपने मुल्क में आजादी और जम्हूरियत को सात तालों के भीतर बंद करके रखा है।

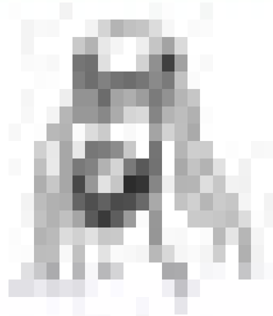

शेख पैट्रो डॉलर-उल्ला
काला सोना मुल्क के सुल्तान

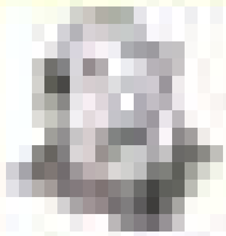

जनाब बिग ऑयल
बिग ऑयल एंड संस के सीईओ

एक दिन मैंने खुद से पूछा कि आखिर मैं अपने मुल्क के किस काम आ सकता हूँ। मेरे मुल्क में तेल की भूख विकट है। वह कभी खत्म होने का नाम नहीं लेती, चलो, तो फिर तेल का इंतजाम करते हैं। मैं बाजार की आज़ादी का हामी हूँ। मतलब यह कि दूर के देशों में तेल के कुएँ खोदने की आज़ादी; धरती की आबो-हवा को मटियामेट करने की आज़ादी और ऐसे कठपुतले तानाशाहों की ताजपोशी की आज़ादी जो अपनी ही जनता पर कोड़े फटकारे।

हम कोई राजनीतिक दांवपेंच नहीं करते। चुनाव अभियानों के वक्त हम रुपयों-पैसों से नेताओं की कुछ मदद भर कर देते हैं। बदले में हम उनसे कहते हैं कि हमारी कंपनी में पैसे लगाओ। इस तरह हमें टीवी के कैमरों के सामने बेवकूफों की तरह हँसने और हाथ हिलाने के करतब दिखा कर शर्मसार नहीं होना पड़ता।

हमारे गैराज में एक शानदार चीज नुमाया है। है ना?
एकदम पतली, चकाचक और चमकीली कार। इसमें पॉवर स्टेयरिंग और ऑटोमेटिक गेयर्स भी हैं। इसकी पिक-अप लाजवाब है और माइलेज के तो क्या कहने! इससे धुआँ वगैरह भी काफी कम निकलता है। देखिए, हमें जल्दी-जल्दी पहुँचना है। हमें खूबसूरत जिंदगी की थोड़ी हड़बड़ी है। ऊपर वाला सबका भला करे। तो चलें। हुर्र...

श्री एवं श्रीमती बड़बोले

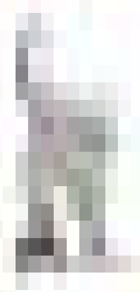

जनाब ग़लत-निशानची

जनाब तख़्तापलट आजादी और जम्हूरियत की हिफ़ाजत की बात करते हैं। शायद इसी वजह से वे बंदूक और मिसाइल को लेकर बड़े दरियादिल हैं। ऐसी ही मिसाइल और बंदूकें उन्होंने हमें रूसी भालुओं से लड़ने के लिए दी थीं। उन्होंने तो हमें लड़ने के दाँवपेंच भी सिखाए। हमें नहीं पता था कि ये लोग तेल के पीछे पड़े हैं। बिग ऑयल हमेशा मीठी-मीठी बातें करते हैं और मन मोह लेते हैं। लेकिन हम लोग अभी आपस में जंगों की कबड्डी खेल रहे हैं। अब हमने खेल के अपने ही नियम बना लिए हैं। जनाब तख़्तापलट की सरकार अपने कायदे-कानून बदलते रहती है। हमने कहा यह बात ठीक नहीं है। हमारे कुछ लोग अब जनाब तख्तापलट, उनकी हुकूमत और वहाँ के लोगों से नफ़रत करने लगे हैं। मजा यह है कि तख़्तापलट को उसके ही खेल में जब मात देनी होती है तो उनके लिए गोले-बारूद और मिसाइल हमारे लिए बड़े काम के साबित होते हैं।

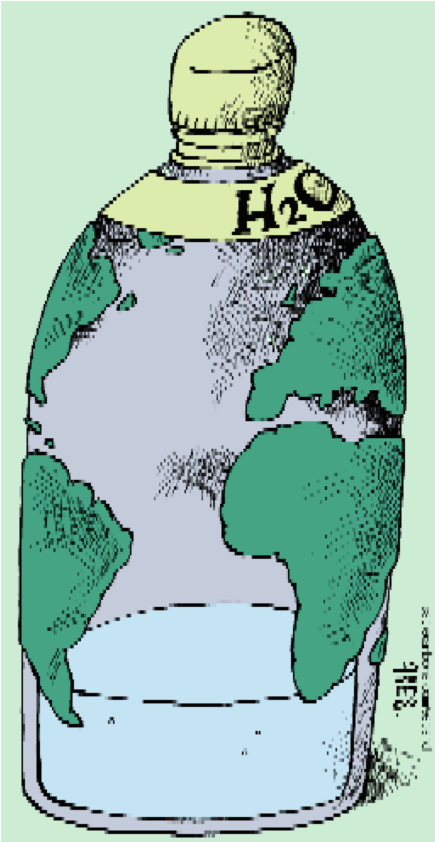

एस, केगल्स कार्टून

पृथ्वी पर पानी का विस्तार ज़्यादा और भूमि का विस्तार कम है। फिर भी, कार्टूनिस्ट ने ज़मीन को पानी की अपेक्षा ज़्यादा बड़े हिस्से में दिखाने का फैसला किया है। यह कार्टून किस तरह पानी की कमी को चित्रित करता है?

मतभेद 21वीं सदी में फसाद की जड़ साबित हों। इस जीवनदायी संसाधन को लेकर हिंसक संघर्ष होने की संभावना है और इसी को इंगित करने के लिए विश्व-राजनीति के कुछ विद्वानों ने 'जलयुद्ध' शब्द गढ़ा है। मिसाल के लिए हम एक प्रचलित मतभेद की चर्चा करें। जलधारा के उद्गम से दूर बसा हुआ देश उद्गम के नजदीक बसे हुए देश द्वारा इस पर बाँध बनाने, इसके माध्यम से अत्यधिक सिंचाई करने या इसे प्रदूषित करने पर आपत्ति जताता है क्योंकि ऐसे कामों से दूर बसे हुए देश को मिलने वाले पानी की मात्रा कम होगी या उसकी गुणवत्ता घटेगी। देशों के बीच स्वच्छ जल-संसाधनों को हथियाने या उनकी सुरक्षा करने के लिए हिंसक झड़पें हुई हैं। इसका एक उदाहरण है – 1950 और 1960 के दशक में इज़रायल, सीरिया तथा जार्डन के बीच हुआ संघर्ष। इनमें से प्रत्येक देश ने जॉर्डन और यारमुक नदी से पानी का बहाव मोड़ने की कोशिश की थी। फिलहाल तुर्की, सीरिया और इराक के बीच फरात नदी पर बाँध के निर्माण को लेकर एक-दूसरे से ठनी हुई है। बहुत से देशों के बीच नदियों का साझा है और उनके बीच सैन्य-संघर्ष होते रहते हैं।

मूलवासी (Indigenous People) और उनके अधिकार

मूलवासियों का सवाल पर्यावरण, संसाधन और राजनीति को एक साथ जोड़ देता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1982 में इनकी एक शुरुआती परिभाषा दी। इन्हें ऐसे लोगों का वंशज बताया गया जो किसी मौजूदा देश में बहुत दिनों से रहते चले आ रहे थे। फिर किसी दूसरी संस्कृति या जातीय मूल के लोग विश्व के दूसरे हिस्से से उस देश में आये और इन लोगों को अधीन बना लिया। किसी देश के 'मूलवासी' आज भी उस देश की संस्थाओं के अनुरूप आचरण करने से ज़्यादा अपनी परंपरा, सांस्कृतिक रिवाज़ तथा अपने ख़ास सामाजिक, आर्थिक ढर्रे पर जीवन-यापन करना पसंद करते हैं।

भारत सहित विश्व के विभिन्न हिस्सों में मौजूद लगभग 30 करोड़ मूलवासियों के सर्वसामान्य हित विश्व-राजनीति के संदर्भ में क्या हैं? फिलीपिन्स के कोरडिलेरा क्षेत्र में 20 लाख मूलवासी लोग रहते हैं। चिले में मापुशे नामक मूलवासियों की संख्या 10 लाख है।

हमारे देश में भी पानी को लेकर बड़े झगड़े-टंटे चल रहे हैं। ये संघर्ष उनसे किस तरह अलग है?

आदिवासी जनता और उनके आंदोलनों के बारे में कुछ ज़्यादा बातें क्यों नहीं सुनायी पड़तीं? क्या मीडिया का उनसे कोई मनमुटाव है?

बांग्लादेश के चटगांव पर्वतीय क्षेत्र में 6 लाख आदिवासी बसे हैं। उत्तर अमरीकी मूलवासियों की संख्या 3 लाख 50 हजार है। पनामा नहर के पूरब में कुना नामक मूलवासी 50 हज़ार की तादाद में हैं और उत्तरी सोवियत में ऐसे लोगों की आबादी 10 लाख है। दूसरे सामाजिक आंदोलनों की तरह मूलवासी भी अपने संघर्ष, अजेंडा और अधिकारों की आवाज़ उठाते हैं।

विश्व-राजनीति में मूलवासियों की आवाज़ विश्व-बिरादरी में बराबरी का दर्ज़ा पाने के लिए उठी है। मूलवासियों के निवास वाले स्थान मध्य और दक्षिण अमरीका, अफ्रीका, दक्षिणपूर्व एशिया तथा भारत में है जहाँ इन्हें आदिवासी या जनजाति कहा जाता है। ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड समेत ओसियाना क्षेत्र के बहुत से द्वीपीय देशों में हजारों सालों से पॉलिनेशिया, मैलनेशिया और माइक्रोनेशिया वंश के मूलवासी रहते हैं। सरकारों से इनकी माँग है कि इन्हें मूलवासी कौम के रूप में अपनी स्वतंत्र पहचान रखने वाला समुदाय माना जाए। अपने मूल वासस्थान पर हक की दावेदारी में विश्वभर के मूलनिवासी यह जुमला इस्तेमाल करते हैं कि हम यहाँ 'अनंत काल से रहते चले आ रहे हैं'। भौगोलिक रूप से चाहे मूलवासी अलग-अलग जगहों पर कायम हैं लेकिन जमीन और उस पर आधारित विभिन्न जीवन-प्रणालियों के बारे में इनकी विश्वदृष्टि आश्चर्यजनक रूप से एक जैसी है। भूमि की हानि का अर्थ है, आर्थिक-संसाधनों के एक आधार की हानि और यह मूलवासियों के जीवन के लिए बहुत बड़ा ख़तरा है। उस राजनीतिक आज़ादी का क्या मतलब जो जीने के लिए साधन ही न मुहैया कराये?

भारत में 'मूलवासी' के लिए अनुसूचित जनजाति या आदिवासी शब्द प्रयोग किया जाता है। ये कुल जनसंख्या का आठ प्रतिशत हैं। अपवादस्वरूप कुछेक घुमन्तू जनजातियों को छोड़ दें तो भारत की अधिकांश आदिवासी जनता अपने जीवन-यापन के लिए खेती पर निर्भर हैं। सदियों से ये लोग बेधड़क जितनी बन पड़े उतनी जमीन पर खेती करते आ रहे थे। लेकिन, ब्रितानी औपनिवेशिक शासन कायम होने के बाद से जनजातीय समुदायों का सामना बाहरी लोगों से हुआ।

एस, केगल्स कार्टून

एक चम्मच पर्यावरण भी!

क्या आपको यह नजरिया जँचता है जिसमें एक शहरी इलाके के आदमी को प्रकृतिखोर और लालची दिखाया गया है।

हालाँकि राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिहाज से इनको संवैधानिक सुरक्षा हासिल है लेकिन देश के विकास का इन्हें ज़्यादा लाभ नहीं मिल सका है। आजादी के बाद से विकास की बहुत सी परियोजनाएँ चलीं और बड़ी संख्या में लोग विस्थापित हुए। ऐसी परियोजनाओं से विस्थापित होने वालों में यह समुदाय सबसे बड़ा है। दरअसल इन लोगों ने विकास की बहुत बड़ी कीमत चुकायी है।

मूलवासी समुदायों के अधिकारों से जुड़े मुद्दे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में लंबे समय तक उपेक्षित रहे हैं। हाल के दिनों में इस सवाल पर ध्यान दिया जाने लगा है।

1970 के दशक में विश्व के विभिन्न भागों के मूलवासियों के नेताओं के बीच संपर्क बढ़ा। इससे इनके साझे अनुभवों और सरोकारों को एक शक्ल मिली। 1975 में 'वर्ल्ड काउंसिल ऑफ इंडिजिनस पीपल' का गठन हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ में सबसे पहले इस परिषद् को परामर्शदायी परिषद् का दर्ज़ा दिया गया। इसके अतिरिक्त आदिवासियों के सरोकारों से संबद्ध 10 अन्य स्वयंसेवी संगठनों को भी यह दर्ज़ा दिया गया है। अगले अध्याय में वैश्वीकरण के विरोध में चल रहे आंदोलन की चर्चा की गई है। इनमें अनेक आंदोलनों ने मूलवासियों के अधिकारों पर जोर दिया है।

आओ मिलजुल कर करें

चरण

- हर छात्र से कहें कि अपने रोजमर्रा के इस्तेमाल की दस वस्तुओं की सूची बनाए। (इस सूची में कलम/कागज़/इरेजर/कंप्यूटर/पानी आदि के नाम लिए जा सकते हैं।)
- छात्रों से कहें कि वे इन वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा का आकलन करें। कलम/कागज/कंप्यूटर आदि बनी-बनायी चीज़ हो तो छात्र इसमें लगे प्राकृतिक संसाधन की मात्रा बताएँ। अगर सूची में पानी या इस जैसी कोई चीज हो तो छात्रों से कहें कि प्रति गैलन पानी की पंपिंग और परिशोधन में लगी बिजली की मात्रा की गणना करें। हर छात्र आकलन करे और अंदाज़े से एक मात्रा को लिखे।

अध्यापकों के लिए

- हर छात्र द्वारा बतायी गई संख्या को एकत्र कर लें फिर इसे जोड़ दें ताकि पता लगे कि उक्त कक्षा के छात्रों द्वारा संसाधनों की कितनी मात्रा का उपयोग हुआ (अध्यापक मदद करें और छात्रों को खुद से गणना करने दें)।
- इसी विद्यालय की बाकी कक्षाओं से इस अभ्यास को जोड़ें फिर देश के सभी विद्यालयों के लिए इसका आकलन करें। देश के स्तर पर जो आंकड़ा आए उसका इस्तेमाल दूसरे देशों के स्कूल में उपभोग किए जा रहे संसाधनों की मात्रा से तुलना करने में भी हो सकता है। (अध्यापक के पास पहले से कुछ चुनिन्दा देशों के छात्रों द्वारा इस्तेमाल किए जा रहे संसाधनों के बारे में जानकारी होनी चाहिए। देशों का चयन करते समय ध्यान रखें कि वे विकसित/विकासशील/अविकसित देशों में से हों)
- छात्रों से कहें कि वे उस मात्रा का अनुमान लगाएँ जिसका हम उपभोग कर रहे हैं। उनसे भविष्य में किए जाने वाले उपभोग की मात्रा का अनुमान लगाने को कहें।

प्रश्नावली

1. पर्यावरण के प्रति बढ़ते सरोकारों का क्या कारण है? निम्नलिखित में सबसे बेहतर विकल्प चुनें।
   (क) विकसित देश प्रकृति की रक्षा को लेकर चिंतित हैं।
   (ख) पर्यावरण की सुरक्षा मूलवासी लोगों और प्राकृतिक पर्यावासों के लिए ज़रूरी है।
   (ग) मानवीय गतिविधियों से पर्यावरण को व्यापक नुकसान हुआ है और यह नुकसान ख़तरे की हद तक पहुँच गया है।
   (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. निम्नलिखित कथनों में प्रत्येक के आगे सही या ग़लत का चिह्न लगायें। ये कथन पृथ्वी-सम्मेलन के बारे में हैं –
   (क) इसमें 170 देश, हजारों स्वयंसेवी संगठन तथा अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भाग लिया।
   (ख) यह सम्मेलन संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में हुआ।
   (ग) वैश्विक पर्यावरणीय मुद्दों ने पहली बार राजनीतिक धरातल पर ठोस आकार ग्रहण किया।
   (घ) यह महासम्मेलनी बैठक थी।

3. 'विश्व की साझी विरासत' के बारे में निम्नलिखित में कौन-से कथन सही हैं?
   (क) धरती का वायुमंडल, अंटार्कटिका, समुद्री सतह और बाहरी अंतरिक्ष को 'विश्व की साझी विरासत' माना जाता है।
   (ख) 'विश्व की साझी विरासत' किसी राज्य के संप्रभु क्षेत्राधिकार में नहीं आते।
   (ग) 'विश्व की साझी विरासत' के प्रबंधन के सवाल पर उत्तरी और दक्षिणी देशों के बीच मतभेद है।
   (घ) उत्तरी गोलार्द्ध के देश 'विश्व की साझी विरासत' को बचाने के लिए दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों से कहीं ज़्यादा चिंतित हैं।

4. रियो सम्मेलन के क्या परिणाम हुए?

5. 'विश्व की साझी विरासत' का क्या अर्थ है? इसका दोहन और प्रदूषण कैसे होता है?

6. 'साझी परंतु अलग-अलग ज़िम्मेदारियाँ' से क्या अभिप्राय है? हम इस विचार को कैसे लागू कर सकते हैं?

7. वैश्विक पर्यावरण की सुरक्षा से जुड़े मुद्दे 1990 के दशक से विभिन्न देशों के प्राथमिक सरोकार क्यों बन गए हैं?

8. पृथ्वी को बचाने के लिए ज़रूरी है कि विभिन्न देश सुलह और सहकार की नीति अपनाएँ। पर्यावरण के सवाल पर उत्तरी और दक्षिणी देशों के बीच जारी वार्ताओं की रोशनी में इस कथन की पुष्टि करें।

9. विभिन्न देशों के सामने सबसे गंभीर चुनौती वैश्विक पर्यावरण को आगे कोई नुकसान पहुँचाए बगैर आर्थिक विकास करने की है। यह कैसे हो सकता है? कुछ उदाहरणों के साथ समझाएँ।

विश्व सामाजिक मंच
एक मुक्त आकाश

कोमिन्टर्न जैसा संगठन बनाना खतरनाक होगा जो समूचे आंदोलन का प्रवक्ता और केंद्र बनने की कोशिश करे।

एक ओर पुराने किस्म की सतही वामपंथी राजनीति है और दूसरी ओर अलग-अलग रंगों वाली अराजकतावादी ताकतें हैं। इनका साझे मुद्दों पर सघन रूप से एक होना नामुमकिन है।

क्या पूँजीवाद को खत्म करने का इकलौता तरीका सर्वसत्तावादी तानाशाही है।

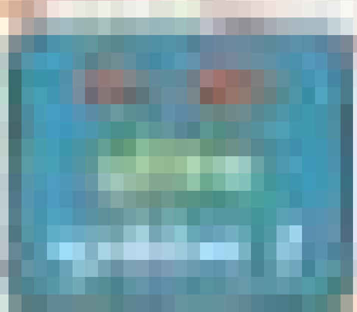

नवउदारवाद नई बोतल में पुरानी शराब है। यह पूँजीवाद का खतरनाक रूप है। इसे हर कीमत पर खत्म कर देना चाहिए। क्या यह कुछ अच्छा भी हो सकता है? हम भी उतने ही भ्रमित हैं जितने की आप।

विकल्पों की खोज और निर्माण की लगातार चलने वाली यह प्रक्रिया बहुलता और विविधता भरी होगी। इसका संदर्भ गैर दलीय और गैर सरकारी होगा।

सच्ची समाजवादी व्यवस्था केवल संघर्ष से लाई जा सकती है; अंतहीन और निरर्थक बहसों से नहीं।

बेहतर है कि **मुंबई प्रतिरोध** 2004 तथाकथित विश्व सामाजिक मंच का विरोध कर रहा है। **मुंबई प्रतिरोध** ने विश्व सामाजिक मंच के अलोकतांत्रिक तौर-तरीकों तथा साम्राज्यवादी देशों और बड़े व्यापार के धन पर इसकी निर्भरता को उजागर किया है।

विश्व सामाजिक मंच साम्राज्यवादी वैश्वीकरण और युद्ध के खिलाफ पनप रहे जुझारुपन को पटरी से उतारना और अपने में हजम कर लेना चाहता है। सामाजिक मंच विश्व पूँजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए संघर्ष को सुधारवाद की तरफ मोड़ना चाहता है। इसमें साम्राज्यवादियों के राजनीतिक आका और कठपुतली सरकारें तो शामिल हैं लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नुमाइंदे नहीं।

एन.जी.ओ. साम्राज्यवाद के दलाल हैं। ये जनता को भरमाते-बरगालते हैं और भ्रष्ट करते हैं।

स्रोतः *गोबर टाइम्स, डाउन टू अर्थ के पोस्टर पर आधारित*

परिचय

पुस्तक के इस अंतिम अध्याय में हम वैश्वीकरण पर बात करेंगे। वैश्वीकरण की चर्चा इस पुस्तक के कई अध्यायों में और कई विषयों की पुस्तक में की गई है। हम शुरुआत वैश्वीकरण की अवधारणा के विश्लेषण और इसके कारणों की जाँच से करेंगे। इसके बाद हम वैश्वीकरण के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिणामों की बात करेंगे। हमारी दिलचस्पी यह समझने में भी है कि वैश्वीकरण का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा है और भारत वैश्वीकरण को कैसे प्रभावित कर रहा है। आखिर में हम वैश्वीकरण को लेकर होने वाले प्रतिरोध पर नज़र डालेंगे और जानेंगे कि कैसे भारत के सामाजिक आंदोलन इस प्रतिरोध का हिस्सा हैं।

अध्याय ९

वैश्वीकरण

वैश्वीकरण की अवधारणा

बहुत-से नेपाली मजदूर काम करने के लिए भारत आते हैं। क्या यह वैश्वीकरण है?

जनार्दन एक कॉल-सेंटर में काम करता है। वह देर दोपहर में काम के लिए निकलता है; दफ्तर में घुसने के साथ ही वह जॉन बन जाता है; नया लहजा अख़्तियार कर लेता है और हजारों किलोमीटर दूर बसे अपने ग्राहकों से बात करने के लिए एक नयी भाषा बोलने लगता है। अपने घर में वह न तो यह भाषा और न ही इस लहजे में बोलता है। वह सारी रात काम करता है जो दरअसल उसके विदेशी ग्राहकों के लिए दिन का समय होता है। जनार्दन एक ऐसे आदमी को अपनी सेवा प्रदान कर रहा है जिससे बहुत संभव है, वह कभी आमने-सामने की मुलाकात न कर सके। यही उसकी दिनचर्या है। जनार्दन की छुट्टियाँ भी भारतीय कैलेंडर से नहीं बल्कि अमरीका के कैलेंडर से मेल खाती हैं जहाँ उसके ग्राहक रहते हैं।

अपनी नौ वर्षीया बेटी को जन्मदिन का उपहार देने के लिए रामधारी बाज़ार गया है। उसने अपनी बेटी को एक छोटी-सी साइकिल उपहार में देने का वायदा किया है। रामधारी ने बाज़ार में जाकर ऐसी साइकिल ढूँढ़ने का फ़ैसला किया जो उसे कीमत के लिहाज से जँच जाए और कुछ उम्दा क्वालिटी की हो। उसने आखिरकार एक साइकिल खरीदी जो बनी तो चीन में थी लेकिन बिक भारत में रही है। इस साइकिल की कीमत रामधारी की जेब को माफ़िक पड़ी और 'क्वालिटी' भी उसे जँच गई। रामधारी ने इसे खरीदने का फ़ैसला किया। पिछले साल अपनी बेटी की जिद पर रामधारी ने उसे 'बार्बी डॉल' खरीदकर दिया था जो दरअसल संयुक्त राज्य अमरीका में बनी थी और भारत में बिक रही थी।

सारिका अपने परिवार में पहली पीढ़ी की शिक्षित है। कठिन मेहनत के बूते स्कूल और कॉलेज में वह अव्वल साबित हुई। अब उसे नौकरी करने और एक स्वतंत्र कॅरिअर की शुरुआत करने का अवसर हाथ लगा है। ऐसे अवसर के बारे में उसके परिवार की महिलाएँ सोच भी नहीं सकती थीं। सारिका के रिश्तेदारों में से कुछ इस नौकरी का विरोध कर रहे हैं लेकिन सारिका ने आखिरकार यह नौकरी करने का फ़ैसला किया क्योंकि उसकी पीढ़ी के नौजवानों के सामने नये अवसर मौजूद हैं।

ये तीनों उदाहरण वैश्वीकरण का एक न एक पहलू दिखाते हैं। पहले उदाहरण में जनार्दन सेवाओं के वैश्वीकरण में हिस्सेदारी कर रहा है। रामधारी जन्मदिन के लिए जो उपहार खरीद रहा है उसमें हमें विश्व के एक भाग से दूसरे भाग में वस्तुओं की आवाजाही का पता चलता है। सारिका के सामने जीवन-मूल्यों के बीच दुविधा की स्थिति है। यह दुविधा अंशतः उन अवसरों के कारण पैदा हुई है जो उसके परिवार की महिलाओं को पहले उपलब्ध नहीं थे लेकिन आज वे एक सच्चाई हैं और जिन्हें व्यापक स्वीकृति मिल रही है।

यदि हम वास्तविक जीवन में 'वैश्वीकरण' शब्द के इस्तेमाल को परखें तो पता चलेगा कि इसका इस्तेमाल कई तरह के संदर्भों में होता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। इन्हें देखिए, ये उदाहरण ऊपर के उदाहरणों से कुछ अलग हैं –

- फसल के मारे जाने से कुछ किसानों ने आत्महत्या कर ली। इन किसानों ने एक बहुराष्ट्रीय कंपनी से बड़े महंगे बीज खरीदे थे।
- यूरोप स्थित एक बड़ी और अपनी प्रतियोगी कंपनी को एक भारतीय कंपनी ने खरीद लिया जबकि खरीदी गई कंपनी

खुद करें, खुद सीखें

एक हफ़्ते के अख़बार पर नज़र दौड़ाइए और वैश्वीकरण के विषय में जो कुछ छपा हो उसकी कतरन एकत्रित कीजिए।

के मालिक इस खरीददारी का विरोध कर रहे थे।

- अनेक खुदरा दुकानदारों को भय है कि अगर कुछ बड़ी अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों ने देश में खुदरा दुकानों की अपनी श्रृंखला खोल ली तो उनकी रोज़ी-रोटी जाती रहेगी।
- मुम्बई के एक फिल्म-निर्माता पर आरोप लगे कि उसने हॉलीवुड में बनी एक फिल्म की कहानी उठाकर अपनी फिल्म बना ली है।
- पश्चिमी परिधान पहनने वाली कॉलेज की छात्राओं को एक उग्रवादी संगठन ने अपने एक बयान में धमकी दी है।

ये उदाहरण हमें बताते हैं कि वैश्वीकरण हर अर्थ में सकारात्मक ही नहीं होता; लोगों पर इसके दुष्प्रभाव भी पड़ सकते हैं। दरअसल ऐसे लोगों की संख्या ज़्यादा है जो मानते हैं कि वैश्वीकरण के सकारात्मक प्रभाव कम और नकारात्मक प्रभाव ज़्यादा हैं। इन उदाहरणों से यह भी पता चलता है कि वैश्वीकरण सिर्फ आर्थिक मसलों से नहीं जुड़ा और ज़रूरी नहीं कि प्रभाव की दिशा हमेशा धनी मुल्कों से ग़रीब मुल्कों की ओर गतिशील हो।

चूँकि 'वैश्वीकरण' शब्द का प्रयोग अधिकांशतया सटीक अर्थों में नहीं होता इसीलिए यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि इसका सही-सही अर्थ क्या है। एक अवधारणा के रूप में वैश्वीकरण की बुनियादी बात है – प्रवाह। प्रवाह कई तरह के हो सकते हैं – विश्व के एक हिस्से के विचारों का दूसरे हिस्सों में पहुँचना; पूँजी का एक से ज़्यादा जगहों पर जाना; वस्तुओं का कई-कई देशों में पहुँचना और उनका व्यापार तथा बेहतर आजीविका की तलाश में दुनिया के

इस अध्याय में वैश्वीकरण से जुड़े विभिन्न पहलुओं को दर्शाती एक चित्रमाला दी गई है। ये चित्र विश्वभर के अलग-अलग हिस्सों से लिए गए हैं। ये चित्र वैश्वीकरण के विभिन्न रंग-रूप, कारण और अलग-अलग समाजों पर पड़ने वाले प्रभावों की एक झलक देते हैं।

1 और 2

ये चित्र हमारे सामने विरोधाभासी स्थिति रखते हैं। इनमें भिन्न संस्कृतियों के लोगों का संपर्क दिखाया गया है। इंटरनेट के माध्यम से अप्रत्यक्ष संपर्क बहुत ज़्यादा कारगर हुआ है।

3

न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यालय के सामने प्रदर्शन

4

हांगकांग में चल रही विश्व व्यापार संगठन की बैठक के दौरान विरोध प्रदर्शन। इन लोगों का मानना है कि वैश्वीकरण ने कुछ देशों के प्रति भेदभाव और बढ़ाया है।

भारत में बिकने वाली चीन की बनी बहुत-सी चीजें तस्करी की होती हैं। क्या वैश्वीकरण के चलते तस्करी होती है?

क्या साम्राज्यवाद का ही नया नाम वैश्वीकरण नहीं है? हमें नये नाम की ज़रूरत क्यों है?

विभिन्न हिस्सों में लोगों की आवाजाही। यहाँ सबसे ज़रूरी बात है 'विश्वव्यापी पारस्परिक जुड़ाव' जो ऐसे प्रवाहों की निरंतरता से पैदा हुआ है और कायम भी है।

वैश्वीकरण एक बहुआयामी अवधारणा है। इसके राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अवतार हैं और इनके बीच ठीक-ठीक भेद किया जाना चाहिए। यह मान लेना ग़लत है कि वैश्वीकरण केवल आर्थिक परिघटना है। ठीक इसी तरह यह मान लेना भी भूल होगी कि वैश्वीकरण एकदम सांस्कृतिक परिघटना है। वैश्वीकरण का प्रभाव बड़ा विषम रहा है– यह कुछ समाजों को बाकियों की अपेक्षा और समाज के एक हिस्से को बाकी हिस्सों की अपेक्षा ज़्यादा प्रभावित कर रहा है। ऐसे में ज़रूरी हो जाता है कि विशिष्ट संदर्भों पर पर्याप्त ध्यान दिए बिना हम वैश्वीकरण के प्रभाव के बारे में सर्व-सामान्य निष्कर्ष निकालने से परहेज करें।

वैश्वीकरण के कारण

क्या है वैश्वीकरण की वज़ह? अगर वैश्वीकरण विचार, पूँजी, वस्तु और लोगों की आवाजाही से जुड़ी परिघटना है तो शायद यह पूछना असंगत न होगा कि इस परिघटना में क्या कुछ नयी बात है? अगर इन चार तरह के प्रवाहों की ही बात है तो फिर वैश्वीकरण मानव-इतिहास के अधिकांश समय जारी रहा है। बहरहाल, जो लोग तर्क देते हैं कि समकालीन वैश्वीकरण के साथ कुछ ख़ास बात है वे ध्यान दिलाते हैं कि नयी बात है इन प्रवाहों की गति और इनके प्रसार का धरातल। ये दोनों बातें मौजूदा वैश्वीकरण को अनूठा बनाती हैं। वैश्वीकरण का एक मजबूत ऐतिहासिक आधार है इसलिए ज़रूरी है कि हम इन प्रवाहों को इतिहास के संदर्भ में देखें।

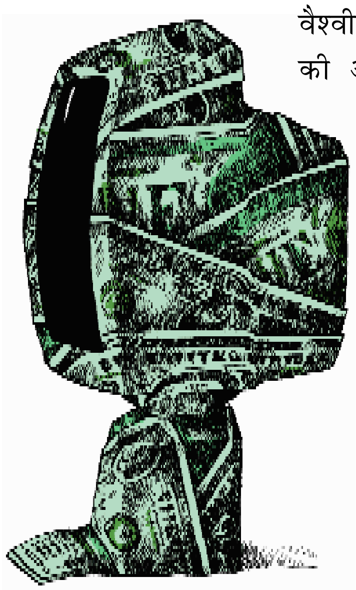

एस, कोल्लस कार्टून

डिजीटल अर्थव्यवस्था का महाचक्र

हालाँकि वैश्वीकरण के लिए कोई एक कारक जिम्मेवार नहीं फिर भी प्रौद्योगिकी अपने आप में एक अपरिहार्य कारण साबित हुई है। इसमें कोई शक नहीं कि टेलीग्राफ, टेलीफोन और माइक्रोचिप के नवीनतम आविष्कारों ने विश्व के विभिन्न भागों के बीच संचार की क्रांति कर दिखायी है। शुरू-शुरू में जब छपाई (मुद्रण) की तकनीक आयी थी तो उसने राष्ट्रवाद की आधारशिला रखी। इसी तरह आज हम यह अपेक्षा कर सकते हैं कि प्रौद्योगिकी का प्रभाव हमारे सोचने के तरीके पर पड़ेगा। हम अपने बारे में जिस ढंग से सोचते हैं और हम सामूहिक जीवन के बारे में जिस तर्ज़ पर सोचते हैं – प्रौद्योगिकी का उस पर असर पड़ेगा।

विचार, पूँजी, वस्तु और लोगों की विश्व के विभिन्न भागों में आवाजाही की आसानी प्रौद्योगिकी में हुई तरक्की के कारण संभव हुई है। इन प्रवाहों की गति में अंतर हो सकता है। उदाहरण के लिए विश्व के विभिन्न भागों के बीच पूँजी और वस्तु की गतिशीलता लोगों की आवाजाही की तुलना में ज़्यादा तेज और व्यापक होगी।

बहरहाल, संचार-साधनों की तरक्की और उनकी उपलब्धता मात्र से वैश्वीकरण अस्तित्व में आया हो – ऐसी बात नहीं। यहाँ ज़रूरी बात यह है कि विश्व के विभिन्न भागों के लोग अब समझ रहे हैं कि वे आपस में जुड़े हुए हैं। आज हम इस बात को लेकर सजग हैं कि विश्व के एक हिस्से में घटने वाली घटना का प्रभाव विश्व के दूसरे हिस्से में भी पड़ेगा। बर्ड फ्लू अथवा 'सुनामी' किसी एक राष्ट्र की हदों में सिमटे नहीं रहते। ये

घटनाएँ राष्ट्रीय-सीमाओं का जोर नहीं मानतीं। ठीक इसी तरह जब बड़ी आर्थिक घटनाएँ होती हैं तो उनका प्रभाव उनके मौजूदा स्थान अथवा क्षेत्रीय परिवेश तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि विश्व भर में महसूस किया जाता है।

राजनीतिक प्रभाव

वैश्वीकरण की समकालीन प्रक्रियाओं के प्रभाव के बारे में जारी बहसों में एक यह है कि इसका राजनीतिक असर क्या हो रहा है? राज्य की संप्रभुता की परंपरागत धारणा पर वैश्वीकरण का असर कैसे होता है? इस सवाल का ज़वाब देते समय हमें कम से कम तीन पहलुओं का ध्यान रखना होगा।

सबसे सीधा-सरल विचार यह है कि वैश्वीकरण के कारण राज्य की क्षमता यानी सरकारों को जो करना है उसे करने की ताकत में कमी आती है। पूरी दुनिया में कल्याणकारी राज्य की धारणा अब पुरानी पड़ गई है और इसकी जगह न्यूनतम हस्तक्षेपकारी राज्य ने ले ली है। राज्य अब कुछेक मुख्य कामों तक ही अपने को सीमित रखता है, जैसे कानून और व्यवस्था को बनाये रखना तथा अपने नागरिकों की सुरक्षा करना। इस तरह के राज्य ने अपने को पहले के कई ऐसे लोक-कल्याणकारी कामों से खींच लिया है जिनका लक्ष्य आर्थिक और सामाजिक-कल्याण होता था। लोक कल्याणकारी राज्य की जगह अब बाज़ार आर्थिक और सामाजिक प्राथमिकताओं का प्रमुख निर्धारक है। पूरे विश्व में बहुराष्ट्रीय निगम अपने पैर पसार चुके हैं और उनकी भूमिका बढ़ी है। इससे सरकारों के अपने दम पर फ़ैसला करने की क्षमता में कमी आती है।

इसी के साथ एक बात और भी है। वैश्वीकरण से हमेशा राज्य की ताकत में कमी

5
वैश्वीकरण की प्रतीक बन चुकी कुछ वस्तुएँ।

6
पहली दुनिया के देशों में आप्रवासी लोगों के काम करने की स्थिति की झलक देता एक चित्र।

7
वैश्वीकरण के दौर में बेगानेपन की स्थिति की ओर इशारा करता एक चित्र। जो व्यक्ति अपनी जैकेट से 'शहर साफ रखो' का संदेश दे रहा है उसे शायद ही कल्पना हो कि इस जैकेट को बनाने वाले किस हालत में रहते हैं।

8
जर्मनी में संस्कृति कलाकारों को पारंपरिक वेशभूषा में 'प्रस्तुत' किया जा रहा है।

आती हो– ऐसी बात नहीं। राजनीतिक समुदाय के आधार के रूप में राज्य की प्रधानता को कोई चुनौती नहीं मिली है और राज्य इस अर्थ में आज भी प्रमुख है। विश्व की राजनीति में अब भी विभिन्न देशों के बीच मौजूद पुरानी ईर्ष्या और प्रतिद्वंद्विता की दखल है। राज्य कानून और व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे अपने अनिवार्य कार्यों को पूरा कर रहे हैं और बहुत सोच-समझकर अपने कदम उन्हीं दायरों से खींच रहे हैं जहाँ उनकी मर्जी हो। राज्य अभी भी महत्त्वपूर्ण बने हुए हैं।

वस्तुत: कुछ मायनों में वैश्वीकरण के फलस्वरूप राज्य की ताकत में इजाफा हुआ है। अब राज्यों के हाथ में अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी मौजूद है जिसके बूते राज्य अपने नागरिकों के बारे में सूचनाएँ जुटा सकते हैं। इस सूचना के दम पर राज्य ज़्यादा कारगर ढंग से काम कर सकते हैं। उनकी क्षमता बढ़ी है; कम नहीं हुई। इस प्रकार नई प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप राज्य अब पहले से ज़्यादा ताकतवर हैं।

मिल्ट प्राइगो, केगल्स कार्टून

वैश्वीकरण के खतरे?

आर्थिक प्रभाव

वैश्वीकरण के आर्थिक पहलू के बारे में सब कुछ भले ही नहीं जाना जा सके लेकिन, यह कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण को लेकर जारी बहसों का बड़ा हिस्सा और इस बहस की दिशा इसी पहलू से संबंधित है।

इस समस्या का एक पक्ष तो यही है कि आर्थिक वैश्वीकरण को कैसे परिभाषित किया जाए। जैसे ही आर्थिक वैश्वीकरण का उल्लेख होता है, हमारा ध्यान अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा विश्व भर में आर्थिक नीतियों के निर्धारण में इनके द्वारा निभायी गई भूमिका पर जाता है। हालाँकि वैश्वीकरण को इतने संकीर्ण नज़रिए से नहीं देखा जाना चाहिए। आर्थिक वैश्वीकरण में इन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अलावा भी कई खिलाड़ी शामिल हैं। आर्थिक वैश्वीकरण को अधिक व्यापक नज़र से समझने के लिए हमें इससे होने वाले आर्थिक फायदों के बँटवारे के अर्थ में सोचना चाहिए यानी इस संदर्भ में कि किसे वैश्वीकरण से सबसे ज़्यादा फायदा हुआ और किसे सबसे कम। यह भी देखने की ज़रूरत है कि वैश्वीकरण के कारण किसने नुकसान उठाया।

अमूमन जिस प्रक्रिया को आर्थिक वैश्वीकरण कहा जाता है उसमें दुनिया के विभिन्न देशों के बीच आर्थिक प्रवाह तेज हो जाता है। कुछ आर्थिक प्रवाह स्वेच्छा से होते हैं जबकि कुछ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और ताकतवर देशों द्वारा जबरन लादे जाते हैं। जैसा कि हमने इस अध्याय की शुरुआत में देखा, ये प्रवाह कई किस्म के हो सकते हैं, जैसे वस्तुओं, पूंजी, जनता अथवा विचारों का प्रवाह। वैश्वीकरण के चलते पूरी दुनिया में वस्तुओं के व्यापार में इजाफा हुआ है;

अलग-अलग देश अपने यहाँ होने वाले आयात पर प्रतिबंध लगाते थे लेकिन अब ये प्रतिबंध कम हो गए हैं। ठीक इसी तरह दुनिया भर में पूंजी की आवाजाही पर अब कहीं कम प्रतिबंध हैं। व्यावहारिक धरातल पर इसका अर्थ यह हुआ कि धनी देश के निवेशकर्ता अपना धन अपने देश की जगह कहीं और निवेश कर सकते हैं, खासकर विकासशील देशों में जहाँ उन्हें ज़्यादा मुनाफा होगा। वैश्वीकरण के चलते अब विचारों के सामने राष्ट्र की सीमाओं की बाधा नहीं रही, उनका प्रवाह अबाध हो उठा है। इंटरनेट और कंप्यूटर से जुड़ी सेवाओं का विस्तार इसका एक उदाहरण है। लेकिन वैश्वीकरण के कारण जिस सीमा तक वस्तुओं और पूंजी का प्रवाह बढ़ा है उस सीमा तक लोगों की आवाजाही नहीं बढ़ सकी है। विकसित देश अपनी वीजा-नीति के जरिए अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को बड़ी सतर्कता से अभेद्य बनाए रखते हैं ताकि दूसरे देशों के नागरिक विकसित देशों में आकर कहीं उनके नागरिकों के नौकरी-धंधे न हथिया लें।

वैश्वीकरण के परिणामों पर सोचते हुए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हर जगह एक समान नीति अपना लेने का मतलब यह नहीं होता कि हर जगह परिणाम भी समान होंगे। वैश्वीकरण के कारण दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में सरकारों ने एकसार आर्थिक नीतियों को अपनाया है, लेकिन विश्व के विभिन्न भागों में इसके परिणाम बहुत अलग-अलग हुए हैं। यहाँ भी हमें सर्व-सामान्य निष्कर्ष निकालने के बजाय संदर्भ-विशेष पर ध्यान देना होगा।

आर्थिक वैश्वीकरण के कारण पूरे विश्व में जनमत बड़ी गहराई से बँट गया है। आर्थिक वैश्वीकरण के कारण सरकारें कुछ

9 और 10
दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बनी चीजें पहली दुनिया के बाज़ारों में भी बिकती हैं। पहले दो चित्र बांग्लादेश और बल्गारिया में बनी चीजों को दर्शाते हैं।

11 और 12
वैश्वीकरण के विरोध में आयोजित विभिन्न सांस्कृतिक और राजनीतिक आयोजन।

जिम्मदारियों से अपने हाथ खींच रही हैं और इससे सामाजिक न्याय से सरोकार रखने वाले लोग चिंतित हैं। इनका कहना है कि आर्थिक वैश्वीकरण से आबादी के एक बड़े छोटे तबके को फायदा होगा जबकि नौकरी और जन-कल्याण (शिक्षा, स्वास्थ्य, साफ-सफाई की सुविधा आदि) के लिए सरकार पर आश्रित रहने वाले लोग बदहाल हो जाएँगे। सामाजिक न्याय के पक्षधर इस बात पर जोर देते हैं कि कुछ सांस्थानिक उपाय किए जाने चाहिए या कहें कि 'सामाजिक सुरक्षा कवच' तैयार किया जाना चाहिए ताकि जो लोग आर्थिक रूप से कमजोर हैं उन पर वैश्वीकरण के दुष्प्रभावों को कम किया जा सके। दुनिया के अनेक आंदोलनों की मान्यता है कि 'सामाजिक सुरक्षा-कवच' की बात अव्यावहारिक है और इतना भर उपाय पर्याप्त नहीं होगा। ऐसे आंदोलनों ने बलपूर्वक किए जा रहे वैश्वीकरण को रोकने की आवाज़ लगाई है क्योंकि इससे ग़रीब देश आर्थिक-रूप से बर्बादी की कगार पर पहुँच जाएँगे; खासकर इन देशों के गरीब लोग एकदम बदहाल हो जाएँगे। कुछ अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक वैश्वीकरण को विश्व का पुन:उपनिवेशीकरण कहा है।

खुद करें, खुद सीखें

आप या आपका परिवार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जिन उत्पादों को इस्तेमाल करता है उसकी एक सूची तैयार करें।

आर्थिक वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के समर्थकों का तर्क है कि इससे समृद्धि बढ़ती है और 'खुलेपन' के कारण ज़्यादा से ज़्यादा आबादी की खुशहाली बढ़ती है। व्यापार की बढ़ती से हर देश को अपना बेहतर कर दिखाने का मौका मिलता है। इससे पूरी दुनिया को फायदा होगा। इन लोगों का कहना है कि आर्थिक वैश्वीकरण अपरिहार्य है और इतिहास की धारा को अवरुद्ध करना कोई बुद्धिमानी नहीं। वैश्वीकरण के मध्यमार्गी समर्थकों का कहना है कि वैश्वीकरण ने चुनौतियाँ पेश की हैं और सजग-सचेत होकर पूरी बुद्धिमत्ता से इसका सामना किया जाना चाहिए। बहरहाल, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि 'पारस्परिक निर्भरता' की रफ्तार अब तेज हो चली है। वैश्वीकरण के फलस्वरूप विश्व के विभिन्न भागों में सरकार, व्यवसाय तथा लोगों के बीच जुड़ाव बढ़ रहा है।

जब हम सामाजिक सुरक्षा-कवच की बात करते हैं तो इसका सीधा-सादा मतलब होता है कि कुछ लोग तो वैश्वीकरण के चलते बदहाल होंगे ही! तभी तो सामाजिक सुरक्षा-कवच की बात की जाती है। है न?

सांस्कृतिक प्रभाव

वैश्वीकरण के परिणाम सिर्फ आर्थिक और राजनीतिक दायरों में ही नज़र नहीं आते; हम घर में बैठे हों तब भी इसकी चपेट में होते हैं। हम जो कुछ खाते-पीते-पहनते हैं अथवा सोचते हैं- सब पर इसका असर नज़र आता है। हम जिन बातों को अपनी पसंद कहते हैं वे बातें भी वैश्वीकरण के असर में तय होती हैं। वैश्वीकरण के सांस्कृतिक प्रभावों को देखते हुए इस भय को बल मिला है कि यह प्रक्रिया विश्व की संस्कृतियों को खतरा पहुँचाएगी। वैश्वीकरण से यह होता है क्योंकि वैश्वीकरण सांस्कृतिक समरूपता ले आता

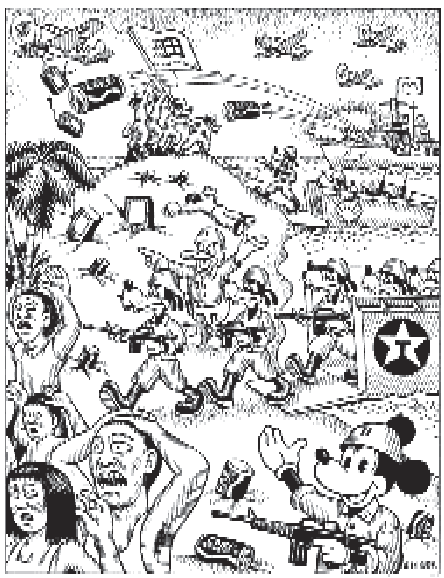

एंडी सिंगर, केगल्स कार्टून

नए बाज़ारों पर कब्जा

है। सांस्कृतिक समरूपता का यह अर्थ नहीं कि किसी विश्व-संस्कृति का उदय हो रहा है। विश्व-संस्कृति के नाम पर दरअसल शेष विश्व पर पश्चिमी संस्कृति लादी जा रही है। हम लोग अमरीकी वर्चस्व वाले अध्याय तीन में वर्चस्व के सांस्कृतिक अर्थ के अंतर्गत इस बात को पढ़ चुके हैं। कुछ लोगों का तर्क है कि बर्गर अथवा नीली जीन्स की लोकप्रियता का नजदीकी रिश्ता अमरीकी जीवनशैली के गहरे प्रभाव से है क्योंकि राजनीतिक और आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली संस्कृति कम ताकतवर समाजों पर अपनी छाप छोड़ती है और संसार वैसा ही दीखता है जैसा ताकतवर संस्कृति इसे बनाना चाहती है। जो यह तर्क देते हैं वे अक्सर दुनिया के 'मैक्डोनॉल्डीकरण' की तरफ इशारा करते हैं। उनका मानना है कि विभिन्न संस्कृतियाँ अब अपने को प्रभुत्वशाली अमरीकी ढर्रे पर ढालने लगी हैं। चूँकि इससे पूरे विश्व की समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर धीरे-धीरे खत्म होती है इसलिए यह केवल गरीब देशों के लिए ही नहीं बल्कि समूची मानवता के लिए खतरनाक है।

इसके साथ-साथ यह मान लेना एक भूल है कि वैश्वीकरण के सांस्कृतिक प्रभाव सिर्फ नकारात्मक हैं। संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं होती। हर संस्कृति हर समय बाहरी प्रभावों को स्वीकार करती रहती है। कुछ बाहरी प्रभाव नकारात्मक होते हैं क्योंकि इससे हमारी पसंदों में कमी आती है। कभी-कभी बाहरी प्रभावों से हमारी पसंद-नापसंद का दायरा बढ़ता है तो कभी इनसे परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों

हम पश्चिमी संस्कृति से क्यों डरते हैं? क्या हमें अपनी संस्कृति पर विश्वास नहीं है?

13 और 14

मुंबई और पोर्टो एल्गेरे में संपन्न वर्ल्ड सोशल फोरम के दो सम्मेलनों में वैश्वीकरण के विरोध में प्रदर्शन।

15

आप्रवासियों के समर्थन में एक आंदोलन में शिरकत करती हुई एक शिक्षिका।

16

मॉल मे झलकती नई बाज़ार संस्कृति।

खुद करें, खुद सीखें

अपनी भाषा की सभी जानी-पहचानी बोलियों की सूची बनाएँ। अपने दादा की पीढ़ी के लोगों से इस बारे में सलाह लीजिए। कितने लोग आज इन बोलियों को बोलते हैं?

यह बात तो सही है कि कभी-कभी मुझे नए गीत अच्छे लगते हैं। क्या हम सबको थोड़ा नृत्य करना अच्छा नहीं लगता भले ही बजायी जा रही धुन पर पश्चिमी संगीत का असर हो?

को छोड़े बिना संस्कृति का परिष्कार होता है। बर्गर मसाला-डोसा का विकल्प नहीं है इसलिए बर्गर से वस्तुत: कोई खतरा नहीं है। इससे हुआ मात्र इतना है कि हमारे भोजन की पसंद में एक चीज़ और शामिल हो गई है। दूसरी तरफ, नीली जीन्स भी हथकरघा पर बुने खादी के कुर्ते के साथ खूब चलती है। यहाँ हम बाहरी प्रभाव से एक अनूठी बात देखते हैं कि नीली जीन्स के ऊपर खादी का कुर्ता पहना जा रहा है। मज़ेदार बात तो यह है कि इस अनूठे पहरावे को अब उसी देश को निर्यात किया जा रहा है जिसने हमें नीली जीन्स दी है। जीन्स के ऊपर कुर्ता पहने अमरीकियों को देखना अब संभव है।

उफ! फिर से एक हिंदुस्तानी।

कॉल सेन्टर की कहानी एक कर्मचारी की ज़बानी

कॉल-सेन्टर में काम करना अपने आप में आँख खोल देने वाला साबित हो सकता है। आप अमरीकियों के फोन-कॉल निबटाते हैं और आपको असली अमरीकी संस्कृति की एक झलक मिलती है। एक औसत अमरीकी हमारी अपेक्षा से कहीं ज़्यादा जीवंत और ईमानदार होता है...

बहरहाल, हर फोन कॉल या बातचीत खुशगवार नहीं होती। आपके पास अविवेकी और बदज़बान लोगों के भी फोनकॉल आते हैं। 'कॉल' हिन्दुस्तान में 'अटेन्ड' की जा रही है, यह जानकर फोन करने वाले का लहजा कभी-कभी नफ़रत से भर उठता है और उससे निबटना बहुत तनाव का काम होता है। अमरीकी हर भारतीय को इस रूप में देखने लगे हैं मानो वह उनकी नौकरी छीनने वाला हो...

आपको कुछ फोन ऐसे भी अटेंड करने होते हैं जिनकी शुरुआत इस पंक्ति से होती है – "चंद मिनट पहले मैंने एक दक्षिण अफ्रीकी से बात की और अब एक हिन्दुस्तानी से मुखातिब हूँ" या "आह री किस्मत! फिर एक हिन्दुस्तानी! प्लीज किसी अमरीकी से बात कराइए...!" ऐसी स्थिति में सामने वाले से पटरी बैठाना मुश्किल होता है।

स्रोत – *10 जनवरी 2005 के द हिंदू में रंजीता उर्स की रिपोर्ट।*

सांस्कृतिक समरुपता वैश्वीकरण का एक पहलू है तो वैश्वीकरण से इसका उलटा प्रभाव भी पैदा हुआ है। वैश्वीकरण से हर संस्कृति कहीं ज़्यादा अलग और विशिष्ट होते जा रही है। इस प्रक्रिया को सांस्कृतिक वैभिन्नीकरण कहते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि संस्कृतियों के मेलजोल में उनकी ताकत का सवाल गौण है परंतु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि सांस्कृतिक प्रभाव एकतरफा नहीं होता।

भारत और वैश्वीकरण

हमने पहले इशारा किया था कि दुनिया के विभिन्न भागों में वैश्वीकरण इतिहास की विभिन्न कालावधियों में पहले भी हो चुका है। पूँजी, वस्तु, विचार और लोगों की आवाजाही का भारतीय इतिहास कई सदियों का है।

औपनिवेशिक दौर में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी मंसूबों के परिणामस्वरूप भारत आधारभूत वस्तुओं और कच्चे माल का निर्यातक तथा बने-बनाये सामानों का आयातक देश था। आज़ादी हासिल करने के बाद, ब्रिटेन के साथ अपने इन अनुभवों से सबक लेते हुए हमने फ़ैसला किया कि दूसरे पर निर्भर रहने के बजाय खुद सामान बनाया जाए। हमने यह भी फ़ैसला किया कि दूसरों देशों को निर्यात की अनुमति नहीं होगी ताकि हमारे अपने उत्पादक चीजों को बनाना सीख सकें। इस 'संरक्षणवाद' से कुछ नयी दिक्कतें पैदा हुई। कुछ क्षेत्रों में तरक्की हुई तो कुछ ज़रूरी क्षेत्रों जैसे स्वास्थ्य, आवास और प्राथमिक शिक्षा पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितने के वे हकदार थे। भारत में आर्थिक-वृद्धि की दर धीमी रही।

1991 में, वित्तीय संकट से उबरने और आर्थिक वृद्धि की ऊँची दर हासिल करने की

इच्छा से भारत में आर्थिक-सुधारों की योजना शुरू हुई। इसके अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों पर आयद बाधाएँ हटायी गईं। इन क्षेत्रों में व्यापार और विदेशी निवेश भी शामिल थे। यह कहना जल्दबाजी होगी कि भारत के लिए यह सब कितना अच्छा साबित हुआ है क्योंकि अंतिम कसौटी ऊँची वृद्धि-दर नहीं बल्कि इस बात को सुनिश्चित करना है कि आर्थिक बढ़वार के फायदों में सबका साझा हो ताकि हर कोई खुशहाल बने।

वैश्वीकरण का प्रतिरोध

हम देख चुके हैं कि वैश्वीकरण बड़ा बहसतलब मुद्दा है और पूरी दुनिया में इसकी आलोचना हो रही है। वैश्वीकरण के आलोचक कई तर्क देते हैं। वामपंथी राजनीतिक रुझान रखने वालों का तर्क है कि मौजूदा वैश्वीकरण विश्वव्यापी पूंजीवाद की एक ख़ास अवस्था है जो धनिकों को और ज़्यादा धनी (तथा इनकी संख्या में कमी) और गरीब को और ज़्यादा ग़रीब बनाती है। राज्य के कमजोर होने से गरीबों के हित की रक्षा करने की उसकी क्षमता में कमी आती है। वैश्वीकरण के दक्षिणपंथी आलोचक इसके राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभावों को लेकर चिंतित हैं। राजनीतिक अर्थों में उन्हें राज्य के कमजोर होने की चिंता है। वे चाहते हैं कि कम से कम कुछ क्षेत्रों में आर्थिक आत्मनिर्भरता और 'संरक्षणवाद' का दौर फिर कायम हो। सांस्कृतिक संदर्भ में इनकी चिंता है कि परंपरागत संस्कृति की हानि होगी और लोग अपने सदियों पुराने जीवन-मूल्य तथा तौर-तरीकों से हाथ धो देंगे।

यहाँ हम गौर करें कि वैश्वीकरण-विरोधी आंदोलन भी विश्वव्यापी नेटवर्क में भागीदारी

17
विज्ञापन को बेअसर करता एक आम आदमी।

18
चीनी माल से अँटा जापानी बाजार।

19
ग्लोबल बाजार का लोकल चेहरा- पश्चिम एशिया में बड़ी कंपनियों का देशीकरण।

आओ मिलजुल कर करें

चरण

ऐसी गतिविधियों से छात्रों को यह समझने में मदद मिलेगी कि वैश्वीकरण ने कैसे हमारे जीवन में प्रवेश किया है और वैश्वीकरण का सर्वव्यापी प्रभाव व्यक्ति, समुदाय तथा राष्ट्रों पर किस तरह पड़ा है।

- कुछ उत्पादों की सूची बनाएँ, मसलन - खाद्य-उत्पाद, बिजली से चलने वाले घरेलू इस्तेमाल के उपकरण और सुख-सुविधा के ऐसे सामान जिनसे आप परिचित हैं।
- अपने पसंदीदा टी.वी. कार्यक्रमों के नाम लिखें।
- अध्यापक इस सूची को एकत्र करें और एक साथ मिलायें।
- कक्षा को छोटे-छोटे समूह में बाँटें और प्रत्येक समूह को वस्तुओं तथा टी.वी. कार्यक्रमों की कुछ सूची दें। अगर सूची ज़्यादा लंबी हो तो समूह में छात्रों की संख्या ज़्यादा रखें।
- छात्रों से रोजमर्रा के उपयोग की इन वस्तुओं के निर्माताओं और अपने पसंदीदा टीवी कार्यक्रमों के प्रायोजकों के नाम बताने को कहें।
- अध्यापक (छात्रों की मदद से) इन उत्पादों के निर्माताओं को तीन वर्गों में सूचीबद्ध करें: (1) पूर्णतया विदेशी कंपनी (2) पूर्णतया भारतीय और (3) साझेदारी में काम करने वाली कंपनियाँ। इस वर्गीकरण से यह तथ्य सामने आएगा कि छात्रों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले अधिकांश उत्पादों की विनिर्माता कंपनियाँ विदेशी हैं जो स्थानीय कंपनी के साथ मिलकर इन वस्तुओं का उत्पादन करती हैं। शेष दो कोटियों के अंतर्गत आनेवाले उत्पाद अपेक्षतया कम हैं।

अध्यापकों के लिए

- अध्यापक विद्यार्थियों से चर्चा करें कि वैश्वीकरण कैसे हमारे जीवन को प्रभावित कर रहा है। इस चर्चा में ज़्यादा जोर रोज़मर्रा के इस्तेमाल की चीज़ों और टीवी के कार्यक्रमों पर दें।
- छात्रों को किन्हीं चार भारतीय कंपनियों के बारे में बताएँ जो विभिन्न उद्योगों में विदेशी कंपनियों के साथ साझेदारी कर रही हैं और जिनके ठिकाने दूसरे देशों में भी हैं।
- छात्रों का ध्यान वैश्वीकरण के दूसरे पहलू पर भी खींचें। विदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल जैसे-जैसे बढ़ा है वैसे-वैसे हमारे छोटे स्वदेशी उद्योगों के ग्राहक कम हुए हैं और ये उद्योग बंद हो रहे हैं।
- इस गतिविधि का समापन वैश्वीकरण को लेकर जारी बहसों से छात्रों का परिचय कराकर हो सकता है। ख़ासतौर से विद्यार्थियों को यह बतायें कि विकासशील और अविकसित देशों पर वैश्वीकरण के प्रभावों को लेकर क्या बातें कही जा रही हैं। विश्व-व्यापार संगठन से जुड़े समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद दुनिया भर में इसके विरुद्ध धरना और विरोध-प्रदर्शन हुए। छात्रों को इनकी जानकारी दें।

करते हैं और अपने से मिलती-जुलती सोच रखने वाले दूसरे देशों के लोगों से गठजोड़ करते हैं। वैश्वीकरण-विरोधी बहुत से आंदोलन वैश्वीकरण की धारणा के विरोधी नहीं बल्कि वैश्वीकरण के किसी खास कार्यक्रम के विरोधी हैं जिसे वे साम्राज्यवाद का एक रूप मानते हैं।

1999 में, सिएट्ल में विश्व व्यापार संगठन की मंत्री-स्तरीय बैठक हुई। यहाँ बड़े पैमाने पर विरोध-प्रदर्शन हुए। आर्थिक रूप से ताकतवर देशों द्वारा व्यापार के अनुचित तौर-तरीकों के अपनाने के विरोध में ये प्रदर्शन हुए थे। विरोधियों का तर्क था कि उदीयमान वैश्विक आर्थिक-व्यवस्था में विकासशील देशों के हितों को समुचित महत्त्व नहीं दिया गया है।

नव-उदारवादी वैश्वीकरण के विरोध का एक विश्व-व्यापी मंच 'वर्ल्ड सोशल फोरम' (WSF) है। इस मंच के तहत मानवाधिकार- कार्यकर्त्ता, पर्यावरणवादी, मजदूर, युवा और महिला कार्यकर्त्ता एकजुट होकर नव-उदारवादी वैश्वीकरण का विरोध करते हैं। 'वर्ल्ड सोशल फोरम' की पहली बैठक 2001 में ब्राजील के पोर्टो अलगेरे में हुई। 2004 में इसकी चौथी बैठक मुंबई में हुई थी। इसकी सातवीं बैठक नैरोबी (कीनिया) में जनवरी, 2007 में हुई है।

भारत और वैश्वीकरण का प्रतिरोध

वैश्वीकरण के प्रतिरोध को लेकर भारत के अनुभव क्या हैं? सामाजिक आंदोलनों से लोगों को अपने पास-पड़ोस की दुनिया को समझने में मदद मिलती है। लोगों को अपनी समस्याओं के हल तलाशने में भी सामाजिक आंदोलनों से मदद मिलती है। भारत में वैश्वीकरण का विरोध कई हलकों से हो रहा है। आर्थिक वैश्वीकरण के ख़िलाफ वामपंथी तेवर की आवाजें राजनीतिक दलों की तरफ से उठी हैं तो इंडियन सोशल फोरम जैसे मंचों से भी। औद्योगिक श्रमिक और किसानों के संगठनों ने बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रवेश का विरोध किया है। कुछ वनस्पतियों मसलन 'नीम' को अमरीकी और यूरोपीय फर्मों ने पेटेन्ट कराने के प्रयास किए। इसका भी कड़ा विरोध हुआ।

वैश्वीकरण का विरोध राजनीति के दक्षिणपंथी खेमों से भी हुआ है। यह खेमा विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों का विरोध कर रहा है जिसमें केबल नेटवर्क के जरिए उपलब्ध कराए जा रहे विदेशी टी.वी. चैनलों से लेकर वैलेन्टाईन-डे मनाने तथा स्कूल-कॉलेज के छात्र-छात्राओं की पश्चिमी पोशाकों के लिए बढ़ती अभिरुचि तक का विरोध शामिल है।

प्रश्नावली

1. वैश्वीकरण के बारे में कौन-सा कथन सही है?
   (क) वैश्वीकरण सिर्फ आर्थिक परिघटना है।
   (ख) वैश्वीकरण की शुरुआत 1991 में हुई।
   (ग) वैश्वीकरण और पश्चिमीकरण समान हैं।
   (घ) वैश्वीकरण एक बहुआयामी परिघटना है।

2. वैश्वीकरण के प्रभाव के बारे में कौन-सा कथन सही है?
   (क) विभिन्न देशों और समाजों पर वैश्वीकरण का प्रभाव विषम रहा है।
   (ख) सभी देशों और समाजों पर वैश्वीकरण का प्रभाव समान रहा है।
   (ग) वैश्वीकरण का असर सिर्फ राजनीतिक दायरे तक सीमित है।
   (घ) वैश्वीकरण से अनिवार्यतया सांस्कृतिक समरूपता आती है।

3. वैश्वीकरण के कारणों के बारे में कौन-सा कथन सही है?
   (क) वैश्वीकरण का एक महत्त्वपूर्ण कारण प्रौद्योगिकी है।
   (ख) जनता का एक खास समुदाय वैश्वीकरण का कारण है।
   (ग) वैश्वीकरण का जन्म संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ।
   (घ) वैश्वीकरण का एकमात्र कारण आर्थिक धरातल पर पारस्परिक निर्भरता है।

4. वैश्वीकरण के बारे कौन-सा कथन सही है?
   (क) वैश्वीकरण का संबंध सिर्फ वस्तुओं की आवाजाही से है।
   (ख) वैश्वीकरण में मूल्यों का संघर्ष नहीं होता।
   (ग) वैश्वीकरण के अंग के रूप में सेवाओं का महत्त्व गौण है।
   (घ) वैश्वीकरण का संबंध विश्वव्यापी पारस्परिक जुड़ाव से है।

5. वैश्वीकरण के बारे में कौन-सा कथन ग़लत है?
   (क) वैश्वीकरण के समर्थकों का तर्क है कि इससे आर्थिक समृद्धि बढ़ेगी।
   (ख) वैश्वीकरण के आलोचकों का तर्क है कि इससे आर्थिक असमानता और ज़्यादा बढ़ेगी।
   (ग) वैश्वीकरण के पैरोकारों का तर्क है कि इससे सांस्कृतिक समरूपता आएगी।
   (घ) वैश्वीकरण के आलोचकों का तर्क है कि इससे सांस्कृतिक समरूपता आएगी।

6. विश्वव्यापी 'पारस्परिक जुड़ाव' क्या है? इसके कौन-कौन से घटक हैं?

7. वैश्वीकरण में प्रौद्योगिकी का क्या योगदान है?

8. वैश्वीकरण के संदर्भ में विकासशील देशों में राज्य की बदलती भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें?

9. वैश्वीकरण की आर्थिक परिणतियाँ क्या हुई हैं? इस संदर्भ में वैश्वीकरण ने भारत पर कैसे प्रभाव डाला है।?

10. क्या आप इस तर्क से सहमत हैं कि वैश्वीकरण से सांस्कृतिक विभिन्नता बढ़ रही है?

11. वैश्वीकरण ने भारत को कैसे प्रभावित किया है और भारत कैसे वैश्वीकरण को प्रभावित कर रहा है?